मंगलमय विधान

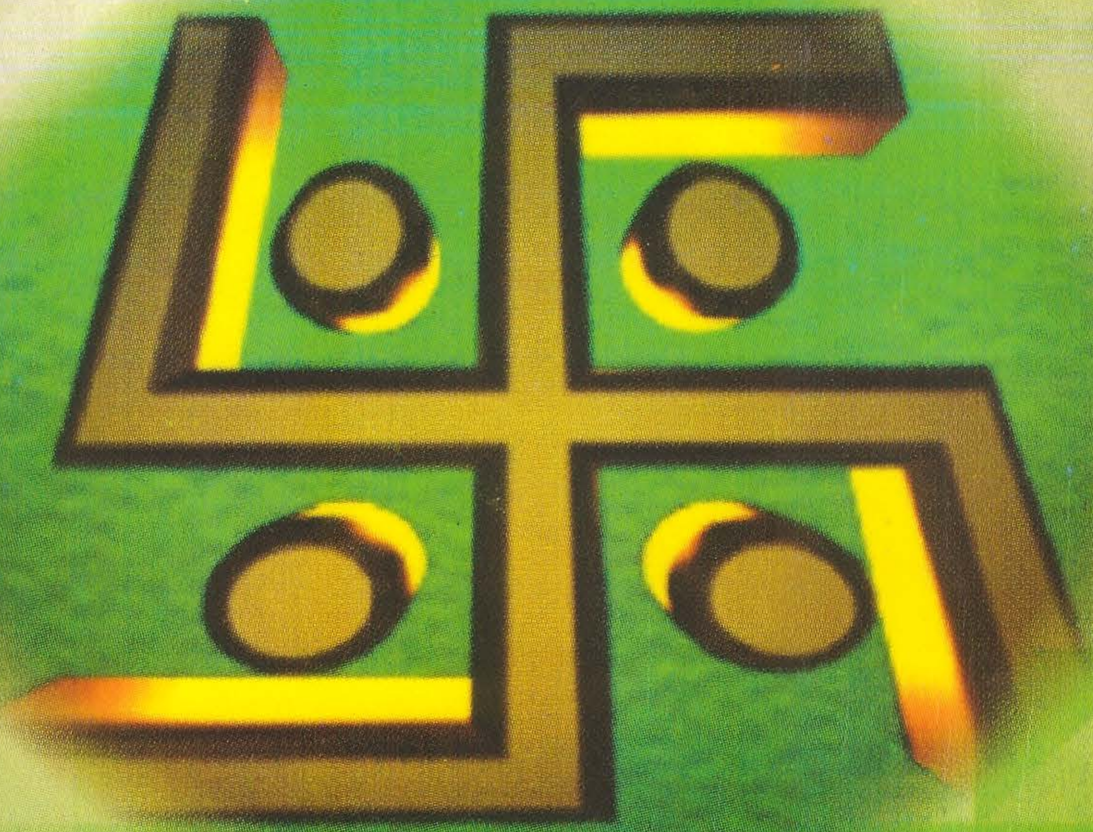

मानवता में ही पूर्णता निहित है
त्याग प्रेम
सेवा
मानव सेवा संघ

मानव सेवा संघ, वृन्दावन

मंगलमय विधान

मानव सेवा संघ के प्रवर्त्तक सन्त ब्रह्मलीन
पूज्यपाद स्वामी शरणानंद जी महाराज की अमृतवाणी

मानव सेवा संघ प्रकाशन
वृन्दावन

☆ *प्रकाशक :*
मानव सेवा संघ,
वृन्दावन

☆ चतुर्थ संस्करण : 4000 प्रतियाँ
मई 2006

☆ मूल्य : Rs 15.00

☆ *मुद्रक :*
पावन प्रिन्टर्स
मेरठ

परिचय

केशव कहि न जाय का कहिए।
देखत तव रचना विचित्र अति समुझि मनहिं मन रहिए॥

पता नहीं सृष्टि की किस विचित्रता को देखकर कवि के हृदय में उपर्युक्त उद्‌गार उठे होंगे। मुझे तो रचना के पीछे जो विधान है और उस विधान में विधायक की जिस महती कृपा और अगाध करुणा की झलक मिलती है उसे देखकर कवि की समानानुभूति से छक कर, उसमें डूब जाने को जी चाहता है; कुछ कहा नहीं जाता। क्या कहूँ।

एक समय था जब सृष्टि का विधान मुझे अपनी जरूरत के सर्वथा विपरीत प्रतीत होता था। घटना-चक्र का आशातीत गति से घूमते रहना, अनुकूलता का प्रतिकूलता में बदल जाना, प्रिय संयोग के सुख का दुस्सह वियोग के दुःख में बदल जाना, ...और अपना वह विवश चित्र....ठगी-ठगी सी हतबुद्धि हो, देखते के देखते रह जाना....बड़ा ही क्रूर प्रतीत होता था। कोमल हृदय की कोमल भावनायें नियति के कठोर थपेड़ों से चकनाचूर हो जातीं और घायल हृदय के विवश क्षोभ की आवाज सुनाई देती—'कौन है सृष्टि का मालिक? कौन है मेरा निर्माता? क्या मजा आता है उसको सृष्टि बनाने में और व्यक्ति को इतना विवश और दुःखी करके रखने में कि वह जो चाहता है सो होता नहीं, जो होता है सो भाता नहीं और जो भाता है सो रहता नहीं?' यह भी कोई लीला है जिसमें कोई तड़प-तड़प कर जीने के लिए बाध्य हो और किसी का खेल चले?

पर धन्य है सृष्टि का करुणामय विधायक और धन्य है उसका मंगलमय विधान! मुझमें विद्रोह उठता रहा, उसमें प्यार उमड़ता रहा, जिसकी मिठास मैं आज अनुभव कर रही हूँ। अब मुझे लाज लगती है; किस मुँह से उसका गुणगान करूँ?

विधान की विलक्षणता देखिये—प्रतीति की परिवर्तनशीलता और अस्थायित्व से झुंझलाकर जब प्रतीति का आश्रय छोड़ दिया जाता है तो जीवन में एक गहरा सूनापन छा जाता है और जब वह सूनापन असह्य हो उठता है तब विश्वम्भर स्वयं उस सूनेपन को भर देते हैं। सदा-सदा के लिए अहम् उस पूर्णता में डूब कर खो जाता है। अत: जो कुछ हो रहा है वह बड़ा ही मंगलकारी है। प्रस्तुत पुस्तक में इसी विषय पर प्रकाश डाला गया है।

वस्तुत: जो व्यक्ति का किया हुआ नहीं है; विधान से स्वयं हो रहा है, वह किसी भी प्रकार किसी के लिए अहितकर नहीं है। इस तथ्य के स्पष्टीकरण के लिए मानव-जीवन और जगत् के उन सभी वैधानिक तथ्यों की बहुत ही युक्तियुक्त व्याख्या इस पुस्तक में की गई है जो मानव के विकास से घनिष्ठ सम्बन्ध रखती है। उदाहरणार्थ निम्नलिखित स्वत: होने वाली वैधानिक बातों पर विचार करें—

प्रत्येक उत्पत्ति का विनाश हो रहा है।

प्रत्येक संयोग, वियोग में बदल रहा है।

प्रत्येक जन्म, मृत्यु में बदल रहा है।

प्रत्येक प्रवृत्ति से सामर्थ्य का ह्रास हो रहा है। सारांश यह है कि प्रतीति में निरन्तर परिवर्तन हो रहा है। इसका कर्त्ता कोई व्यक्ति नहीं है। यह सब किसी विधान से स्वत: हो रहा है। जिस विधान से यह सब हो रहा है उसी विधान से व्यक्ति को विवेक का प्रकाश मिला है। उस प्रकाश में यह स्पष्ट दिखाई देता है कि जो कुछ प्रतीत हो रहा है उसमें अनवरत गति है। अत: उसका अस्तित्व सिद्ध नहीं होता। फिर भी हम यदि प्रतीति का आश्रय लेकर जीना चाहते हैं तो यह विवेक का अनादर है। यह अपनी भूल है। "प्रतीति में स्थायित्व नहीं है"—इस वैधानिक तथ्य के प्रति सजग होते ही विचारों और भावों का प्रवाह चलने लगता है। प्रतीति से अतीत

के जीवन की खोज तथा प्रतिपल नये-नये रूप धारण करने वाले दृश्यों की लुभावनी कलाकृति के कुशल कलाकार में आस्था आरम्भ हो जाती है। खोज के द्वारा उससे अभिन्न होकर, आस्था के द्वारा उसकी प्रीति होकर मानव कृतकृत्य हो जाता है। अत: जो कुछ हो रहा है मंगलमय विधान से ही हो रहा है।

'यह' के क्षेत्र में खोज करने वाले वैज्ञानिक भी इस निर्णय पर आने लगे हैं कि उत्पत्ति के मूल में किसी का संकल्प है। इस दृष्टि से भी अव्यक्त जब व्यक्त हुआ है, तो इस व्यक्त रूप का नयापन बना रहे, अविच्छिन्नता (Continuity) बनी रहे—इसके लिए निरन्तर परिवर्तन अनिवार्य है। परिवर्तन की अनिवार्यता पर दृष्टि जाते ही जो हो रहा है, वह स्वाभाविक लगने लगता है। इतना ही नहीं; उससे यह संकेत मिलता है कि प्रत्येक गति का आकर्षण बिना किसी अस्तित्व के सम्भव नहीं है। अत: समस्त सृष्टि जिसकी ओर दौड़ रही है उसकी खोज के द्वारा अथवा उसकी आस्था स्वीकार करके मानव विकासोन्मुख हो जाता है। किन्तु प्रमादवश जब मानव प्रतीति के सीमित सौन्दर्य के आकर्षण में फँस कर; उसका आश्रय लेकर सुख भोगना चाहता है और फलत: जब उसे दु:ख भोगने के लिए विवश होना पड़ता है, तब वह जीवन के मंगलकारी विधान को अमंगलकारी कहने लगता है। यह उसकी अपनी बनायी हुई भूल है; तथ्य नहीं। इसी भूल के कारण वह दु:खी होता है और जब तक वह अपनी भूल अपने ही द्वारा मिटा नहीं लेता; तब तक न उसका दु:ख मिटता है और न वह अमरत्व एवं प्रेम से अभिन्न होने का अधिकारी ही बनता है। प्रस्तुत पुस्तक में प्रत्येक आवश्यक स्थल पर इस विषय की बहुत ही स्पष्ट व्याख्या की गयी है।

विधान को मंगलमय बताते हुए यह कहा गया है कि जिस विधान से मानव को विवेक का प्रकाश मिला है उसी विधान से उसे यह स्वाधीनता

भी मिली है कि वह प्राप्त विवेक का आदर अथवा अनादर भी कर सकता है। किन्तु विवेक के आदर का परिणाम विकास एवं अनादर का परिणाम ह्रास अवश्य होता है। इस वैधानिक परिणाम में व्यक्ति की स्वाधीनता नहीं है। इस विधान में भी कितनी करुणा छिपी है कि मिली हुई स्वाधीनता का दुरुपयोग करते ही उसका दुष्परिणाम व्यक्ति के सामने आ जाता है और ज्यों ही वह सजग होकर दुरुपयोग करना बन्द कर देता है त्यों ही विकास आरम्भ हो जाता है। अतः विधान से होने वाला ह्रास भी विकास का प्रेरक बन जाता है।

कभी-कभी साधक ऐसा प्रश्न करते हैं कि प्राप्त ज्ञान के अनादर तथा बल के दुरुपयोग का परिणाम जब सदैव अहितकर ही सिद्ध होता है; तब मनुष्य को विधान से इतनी स्वाधीनता क्यों दी गई कि वह ज्ञान का अनादर तथा बल का दुरुपयोग कर बैठे? प्रस्तुत पुस्तक में इस प्रश्न के उत्तर के रूप में एक गूढ़ रहस्य का उद्घाटन किया गया है जो मानव-जीवन के महत्त्व पर अपूर्व प्रकाश डालता है। कहा गया है कि मानव को यदि यह स्वाधीनता न मिली होती तो उसे अपने आपका भास ही नहीं होता। अपने आपका अनुभव करने से ही मानव, सृष्टि के सम्बन्ध में; उसके आश्रय तथा प्रकाशक के सम्बन्ध में विचार करता है। उसको अपने आपका भास न हो तो उसकी रचना का उद्देश्य अपूर्ण रह जाय। रचयिता ने क्रिया; विचार और भाव-शक्ति देकर मानव का निर्माण इसलिए किया कि वह जगत् की सेवा, सत्य की खोज और जगत्पति को प्यार कर सके। अर्थात् उसका जीवन सभी के लिए उपयोगी हो सके। यदि उसे उपर्युक्त स्वाधीनता नहीं मिलती तो उसके जीवन की महत्ता सिद्ध नहीं हो सकती थी। मानव-जीवन की रचना से रचयिता की महिमा सिद्ध होती है और रचयिता की महिमा से मानव महिमावान होता है क्योंकि सृष्टि की सौन्दर्यानुभूति और सृष्टिकर्ता के माधुर्य की रसानुभूति करने में मानव ही

समर्थ है । यह सामर्थ्य उसे जिस विधान से मिली है वह विधान सब प्रकार से मंगलमय है और उस विधान का आदर करने वाला धन्य है ।

चूँकि मानव की रचना एक विशेष उद्देश्य से हुई है, इसलिए इसका विधान अत्यन्त करुणा एवं हित-भावना से ओत-प्रोत है । प्रस्तुत पुस्तक में स्थान-स्थान पर विधान के मंगलमय होने के अनेक चमत्कारिक उदाहरण आपको मिलेंगे, जिनको पढ़ कर हृदय गद्‌गद्‌ हो उठता है और इस अनुपम विधान के विधायक की ओर बरबस आकर्षित हो जाता है। उदाहरणार्थ—मानव के जीवन में सामर्थ्य के सदुपयोग से जो विकास होता है, असमर्थता की पीड़ा से भी वही विकास होता है । कैसा अनुपम विधान है जिसमें सामर्थ्यवान और असमर्थ दोनों का हित समान रूप से निहित है । इतनी उदारता और करुणा से ओत-प्रोत विधान के रहते हुए भी यदि हम शान्ति, स्वाधीनता और प्रेम से वंचित रह जाँय तो इससे बढ़कर अपनी भूल और क्या हो सकती है ?

और देखिये—यह आवश्यक नहीं है कि विधान का आदर करने के लिए विधायक में आस्था अवश्य की जाय । विधान इतनी उदारता से निर्मित है कि उसका सर्वांश में अनुसरण करने पर विधायक को न मानने वाले का भी वैसा ही पूर्ण विकास होता है, जैसा विधायक को मानने वाले का अर्थात् दोनों की ही योग, बोध, प्रेम से अभिन्नता हो जाती है ।

प्रस्तुत पुस्तक में इस बात की व्याख्या बहुत ही युक्ति-युक्त ढंग से की गई है कि विधान को स्वीकार करने पर विधायक को अस्वीकार करना कोई अर्थ नहीं रखता । फिर भी व्यक्ति के व्यक्तित्व की रचना में विचार-पक्ष की प्रधानता होने के कारण वह विधायक में आस्था करना न भी चाहे तो भी उसका विकास रुकता नहीं है । विधान का आदर करते ही वह 'नहीं' की आसक्ति से मुक्त हो जाता है और 'है' के होने-पन का अनुभव कर उससे अभिन्न हो जाता है । इस दृष्टि से विधान का अनुसरण

व्यक्तिगत भिन्नता के होते हुए भी सभी मत एवं विचारों के साधकों के लिए मंगलकारी है।

व्यक्तिगत भिन्नता एक प्राकृतिक तथ्य है। आज तक सर्वांश में कोई दो व्यक्ति भी एक समान नहीं हुए। यह तथ्य मानव-समाज में एक विशिष्ट स्थान रखता है, कारण कि विभिन्न रुचि एवं योग्यता के व्यक्ति एक दूसरे के पूरक होते हैं। भौतिक एकता एवं संगठन की दृष्टि से व्यक्तिगत भिन्नता बहुत ही उपयोगी तथ्य है। साथ ही माँग की दृष्टि से मानवमात्र एक है, इसलिए कि शान्ति, स्वाधीनता और प्रेम सभी को चाहिए। इस माँग की पूर्ति का ऐसा अदभुत विधान है कि रुचि, योग्यता एवं परिस्थितियों की भिन्नता कोई अर्थ नहीं रखती कारण कि माँग की पूर्ति श्रम-रहित होने में है। श्रम करने में सभी एक दूसरे से भिन्न हैं परन्तु श्रम-रहित होने पर सभी एक हैं। इस दृष्टि से जीवन की माँग की पूर्ति में सभी समान रूप से स्वाधीन एवं समर्थ हैं। जिस विधान से उन्हें यह स्वाधीनता एवं सामर्थ्य मिली है वह मंगलमय है।

इसी प्रकार प्रस्तुत पुस्तक में मानव-जीवन के अनेक रहस्यमय वैधानिक पहलुओं पर प्रकाश डाला गया है जिनको पढ़ कर कोई भी साधक अपनी सफलता से निराश नहीं रह सकता। मेरी समझ से आज मानव-समाज की सबसे बड़ी सेवा यही है कि उसे आत्म-विश्वास मिले। वह अपनी सफलता में अपने को स्वाधीन एवं समर्थ माने। 'मंगलमय विधान' को पढ़ने से परिस्थितियों की प्रतिकूलता से घबराये हुए व्यक्ति को एक राह मिलती है। अपने जीवन की महिमा और रचयिता की करुणा एवं हित-भावना से ओत-प्रोत विधान में आस्था होती है जो प्रत्येक मानव के विकास के लिए बहुत ही हितकर है।

जो व्यक्ति का किया हुआ नहीं है, अपने आप हो रहा है, जिसका सामना करने के लिए व्यक्ति बाध्य है, उसके सम्बन्ध में जिज्ञासा स्वभाव

से ही होती है। जो विधान से हो रहा है, उसका ठीक अभिप्राय न समझने के कारण अनेक भ्रमात्मक धारणाएँ उसके सम्बन्ध में व्यक्ति बना लेता है, विधान और विधायक को कोसता है तथा अपने विकास में अपने को विवश मान लेता है। इससे उसका जीवन निष्फल हो जाता है। अतः अपने जीवन के विधान के सम्बन्ध में स्पष्ट परिचय सभी के लिए अत्यन्त आवश्यक है। हमारी इस आवश्यकता की पूर्ति प्रस्तुत पुस्तक से होती है।

सम्पूर्ण पुस्तक में दो प्रकार की बातें आपको मिलेंगी। कुछ में जीवन के अनुभूत सत्य के आधार पर विधान का मंगलमय होना बताया गया है और कुछ में यह बताया गया है कि किस प्रकार उस विधान का आदर विकास की ओर और अनादर ह्रास की ओर ले जाता है। सारांश यह कि मानव के जीवन में विधान का आदर अनिवार्य है, उसके अनादर के लिए मानव के जीवन में कोई स्थान नहीं है। आशा है पुस्तक पढ़ कर असमर्थ-से-असमर्थ और सामर्थ्यवान सभी साधक जीवन के मंगलमय विधान में आस्था कर उसका अनुसरण करेंगे और अपने जीवन को सभी के लिए उपयोगी बनाने में तत्पर होंगे। इसी सद्भावना के साथ—

गीता भवन, स्वर्गाश्रम
१५-५-६४

विनीता—
देवकी

मंगलमय विधान

जो कुछ हो रहा है, उसके मूल में किसी विधान का होना अनिवार्य है। विधान उसे नहीं कहते जो किसी के लिए अमंगलकारी हो, अपितु विधान सभी के लिए मंगलमय होता है। पर यह रहस्य वे ही मानव जान पाते हैं जो करने में सावधान और होने में प्रसन्न रहते हैं "करना", "होना" और "है"—इनका भेद जानना अनिवार्य है। 'करने' का आरम्भ होता है, पराधीनता में जीवन-बुद्धि स्वीकार करने पर। जब मानव किसी उत्पन्न हुई वस्तु, अवस्था, परिस्थिति आदि से तादात्म्य स्वीकार कर लेता है तब वह अपने में परिच्छिन्नता का अनुभव करता है। परिच्छिन्नता के उत्पन्न होते ही कामनाओं का जन्म स्वत: होता है। कामना प्रतीति से सम्बन्ध जोड़ देती है। इतना ही नहीं, कामना के अनुरूप मानव में किसी न किसी प्रवृत्ति की रुचि होती है। प्रवृत्ति के अन्त में प्राप्त शक्ति का ह्रास स्वयं होता है और अन्त में विवश होकर मानव को निवृत्ति अपनानी पड़ती है। किन्तु मंगलमय विधान से, निवृत्तिकाल में स्वत: प्रवृत्ति की सामर्थ्य आती है, जिसके आते ही मानव पुन: प्रवृत्ति को अपनाता है। निवृत्तिकाल में जो सामर्थ्य आती है वह किसी कर्म का फल नहीं हो सकती। कारण कि कर्म का सम्पादन तो प्राप्त वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य से होता है जो कर्म-अनुष्ठान से पूर्व ही मिलती है। कर्म का जो कारण है वह कर्म का कार्य नहीं हो सकता। अत: यह निर्विवाद सिद्ध है कि कर्ता को कर्म-सामग्री किसी विधान से मिलती है और उस मिली हुई सामर्थ्य का सदुपयोग करने के लिए भी प्रत्येक मानव को विवेकरूपी विधान प्राप्त है। विवेकरूपी विधान जिससे

प्रकाश पाता है वही अनन्त का मंगलमय विधान है। उसी विधान के अधीन सारी सृष्टि कार्य कर रही है। पर उसी मंगलमय विधान से मानव को यह स्वाधीनता मिली है कि वह मिली हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य का विवेकरूपी विधान के अनुरूप सदुपयोग कर सकता है और विवेक का अनादर कर दुरुपयोग भी कर बैठता है। फिर भी परम सुहृद का कैसा उदार विधान है कि वाणी का दुरुपयोग करने पर भी बोलने की शक्ति मिलती ही है!

इसका अर्थ यह नहीं है कि जिसने बोलने की शक्ति दी है उसने मानव को मिथ्या बोलने का आदेश दिया है। यदि ऐसा होता तो यह विवेक, कि हमसे कोई मिथ्या न बोले, कैसे प्राप्त होता? यह जानते हुए भी कि हमसे कोई मिथ्या न बोले, हम मिथ्या बोलते हैं, अर्थात् अपने प्रति बुराई न चाहते हुए भी, पर के प्रति बुराई कर बैठते हैं। यह स्वाधीनता मानवेतर किसी और प्राणी को नहीं है। प्राप्त विवेक के अनुरूप करने-धरने, रहने आदि की प्रेरणा मंगलमय विधान से मानव को मिली है, पर स्वाधीनता के कारण, मानव विधान का अनादर करता है। उसका परिणाम यह होता है कि समस्त सृष्टि का सिरमौर मानव अनेक प्रकार की पराधीनता, जड़ता, अभाव, आदि में आबद्ध हो जाता है। यह विधान के अनादर का परिणाम हैं।

असमर्थता आ जाने पर तो किसी से कोई बुराई होती ही नहीं, यह कैसा अनुपम विधान है! इतना ही नहीं, असमर्थता अनुभव करते ही सर्व-समर्थ का आश्रय स्वतः प्राप्त होता है। कितनी अगाध करुणा है उस विधान में! सामर्थ्य का दुरुपयोग ही अकर्त्तव्य है। अनेक बार सामर्थ्य का दुरुपयोग करने पर भी सामर्थ्य मिलती ही रहती है। विवश होकर भले ही विधान मानव को रोग, शोक आदि में आबद्ध करे, उसमें भी उसकी अपार करुणा है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है जब दुःखी पर वैधानिक दृष्टि से आये हुए दुःख का प्रभाव हो जाता है। दुःख, जो स्वभाव से ही

प्रिय नहीं है, जिसकी कोई आवश्यकता अनुभव नहीं करता, उसका निर्माण एकमात्र मंगलमय विधान से ही होता है। सुख का चला जाना और दुःख का आ जाना—इस विधान से सभी भलीभाँति परिचित हैं। पर विधान का आदर न करने से सुख का जाना और दुःख का आना मानव को रुचिकर नहीं होता। पर जिन्होंने विधान का आदर किया है, वे मानव यह भलीभाँति अनुभव करते हैं कि सर्वतोमुखी विकास के लिए सुख का जाना और दुःख का आना अनिवार्य है।

सामर्थ्य का सदुपयोग करने पर जो विकास होता है, असमर्थ होने पर भी वही विकास होता है। यह कैसा विचित्र विधान है जिससे समर्थ और असमर्थ दोनों का हित निहित है ! सामर्थ्य के दुरुपयोग का परिणाम यदि रोग और शोक न होता तो न जाने कितना भयंकर विप्लव हो जाता। प्रवृत्ति के अन्त में यदि सामर्थ्य के ह्रास का विधान न होता तो मानव न जाने कब तक के लिए प्रवृत्ति में ही आबद्ध रहता। यदि जन्म के साथ मृत्यु, संयोग के साथ वियोग, उत्पत्ति के साथ विनाश और प्रवृत्ति के साथ असमर्थता न होती तो न जाने कितनी भयंकर दुर्दशा मानव-समाज की हो जाती। मृत्यु, वियोग, विनाश और असमर्थता क्या मानव को अविनाशी, नित्य, अनन्त, दिव्य-चिन्मय जीवन की ओर अग्रसर होने का पाठ नहीं पढ़ातीं ? यह सभी को विदित है कि पराधीनता की पीड़ा ने ही स्वाधीनता की माँग प्रदान की है। इसी प्रकार किसी न किसी अभाव से ही पूर्णता की माँग जाग्रत होती है। इतना ही नहीं, वर्तमान की वेदना में ही भविष्य की उपलब्धि निहित है। इस विधान की जितनी महिमा गाई जाय, कम है।

विधान में आस्था उन्हीं प्राणियों की नहीं होती जो बल के दुरुपयोग को ही जीवन मान लेते हैं। यद्यपि सबल से सभी रक्षा की आशा करते हैं, किन्तु वे स्वयं निर्बलों के प्रति बल का दुरुपयोग कर बैठते हैं। उसका परिणाम यह होता है कि सबल निर्बल हो जाता है और निर्बल सबल।

जिसका अधिकार किसी की उत्पत्ति में नहीं है, वह किसी का विनाश भी नहीं कर सकता बल्कि बल के दुरुपयोग से वह निर्बलता का आह्वान करता है, जो भूल है। मंगलमय विधान किसी को निर्बल देखना नहीं चाहता, पर जब मानव मिली हुई स्वाधीनता का दुरुपयोग करता है, तब उसको दुरुपयोग से बचाने के लिए उसे निर्बल करना पड़ता है। इसमें भी कितना हित निहित है! पर उसे वे ही देख पाते हैं, जिन्होंने विधान का आदर किया है। जो हो रहा है, वह सभी के लिए हितकर है, पर जो कर रहे हैं, उसी पर विचार करना है।

विवेक-विरोधी सम्बन्ध, विश्वास तथा कर्म विधान का अनादर है। उसी का परिणाम है अकर्त्तव्य, आसक्ति, असाधन आदि की उत्पत्ति, जो विनाश का मूल है। विवेक-विरोधी कर्म के त्याग में ही कर्त्तव्यपरायणता और विवेक-विरोधी सम्बन्ध के त्याग में असंगता एवं विवेक-विरोधी विश्वास का त्याग करते ही उसकी शरणागति स्वत: प्राप्त होती है जिसे देखा नहीं है। विधान का आदर करने पर कर्त्तव्यपरायणता, असंगता एवं शरणागति स्वत: प्राप्त होती है। कर्त्तव्यपरायणता जगत् के लिए, असंगता अपने लिए और शरणागति प्रभु के लिए उपयोगी है। इस दृष्टि से विधान के आदर में ही मानव-जीवन की पूर्णता निहित है।

यह कैसा अलौकिक विधान है कि वास्तविकता के किसी भी अंग को पूर्ण-रूपेण अपना लेने पर सर्वतोमुखी विकास स्वत: होता है अर्थात् कर्त्तव्यपरायणता आ जाने पर असंगता तथा शरणागति स्वत: आ जाती है। उसी प्रकार असंगता अपना लेने पर कर्त्तव्यपरायणता एवं शरणागति स्वत: आ जाती है और शरणागत होने पर कर्त्तव्यपरायणता एवं असंगता स्वत: आ जाती है।

यह कैसा अनुपम विधान है कि दो मानव भी सर्वांश में समान रुचि, योग्यता, सामर्थ्य के नहीं हैं, पर वास्तविक माँग सभी की एक है। अनेक भेद होने पर भी वास्तविक माँग की पूर्ति हो सकती है।

व्यक्तिगत भिन्नता के कारण श्रम-साध्य उपाय सभी के लिए समान रूप से सम्भव नहीं है। इसलिए श्रम-साध्य उपायों का सम्बन्ध एक मात्र प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग में ही है। परिस्थिति का सदुपयोग करने पर, जो सभी परिस्थितियों से अतीत वास्तविक जीवन है, उसमें मानव का प्रवेश एकमात्र विश्राम से ही साध्य है। यह कैसा अनुपम विधान है कि व्यक्तिगत भिन्नता होने पर भी सर्वोत्कृष्ट जीवन में विश्राम के द्वारा सभी साधकों का समान रूप से प्रवेश हो सकता है। विधान करुणा, उदारता, आत्मीयता से परिपूर्ण है। इस दृष्टि से विधान के आदर में ही मानव का सर्वतोमुखी विकास निहित है। ज्यों-ज्यों विधान की महिमा स्पष्ट होती जाती है, त्यों-त्यों विधायक में अविचल आस्था, श्रद्धा तथा विश्वास होता जाता है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है जब मानव विधान से मिले हुए प्राप्त ज्ञान का आदर कर निश्चिन्त तथा निर्भय हो जाय।

व्यक्तिगत भिन्नता में भी विधान का एक अद्‌भुत चमत्कार है, कारण कि व्यक्तिगत भिन्नता के आधार पर ही व्यक्ति और समाज, शरीर और विश्व, दो वर्गों, दो देशों, दो दलों में एकता की स्थापना होती है। व्यक्तिगत भिन्नता एक दूसरे के लिए पूरक है। इस दृष्टि से व्यक्तिगत भिन्नता भी वैधानिक तथ्य है। समस्त भिन्नता के मूल में एक स्वरूप की एकता है। वह एकता ही भिन्नता के द्वारा एक दूसरे के लिए उपयोगी सिद्ध होती है। किन्तु यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है जब मानव यह स्वीकार करे कि जिस किसी को जो कुछ मिला है वह दूसरों के लिए है, अपने लिए नहीं। अपने लिए तो एकमात्र विश्राम से साध्य देहातीत वास्तविक जीवन ही है। जब मिला हुआ अपना नहीं है, अपने लिए नहीं है तो विषमता में भी एक अद्‌भुत समता है। हे विधान के निर्माता ! तेरी महिमा का वारापार नहीं है।

विधान जिससे निर्मित है, न जाने उसमें कितनी करुणा है ! भिन्नता में साक्षात् एकता का दर्शन ! इस दृष्टि से भिन्नता एकमात्र सृष्टि की शोभा

है, और कुछ नहीं। अनेकता में एकता का दर्शन होने से रस की वृद्धि होती है और एकता में एकता का अनुभव करने से केवल दु:ख की निवृत्ति होती है। दु:ख की निवृत्ति वास्तविक माँग का एक अंग मात्र है, सर्वांग नहीं। दु:ख-निवृत्ति के साथ-साथ अनन्त, नित्य चिन्मय तथा नित-नव रस की भी माँग है। असंगता प्राप्त होने पर दु:ख-निवृत्ति, शान्ति तथा स्वाधीनता की प्राप्ति होती है, किन्तु स्वाधीनता का आश्रय पाकर अहंभाव जीवित रहता है, कारण कि जो दु:ख, अशान्ति, पराधीनता अनुभव करता था वही दु:ख-निवृत्ति, शान्ति एवं स्वाधीनता अनुभव करता है। इस दृष्टि से असंगता अपने लिए उपयोगी है। पर जिसके मंगलमय विधान से विवेक-विरोधी सम्बन्ध के त्याग की सामर्थ्य मिलती है उसके लिए जीवन शरणागति से ही उपयोगी होता है। शरणागति अहम् को शरण्य की अगाध प्रियता में परिणत करती है, जिससे जीवन शरण्य के लिए उपयोगी होता है। विवेक-विरोधी कर्म के त्याग में ही कर्त्तव्यपरायणता की अभिव्यक्ति होती है जिससे जीवन जगत् के लिए उपयोगी होता है। विवेकरूपी प्रकाश अनन्त के मंगलमय विधान का प्रतीक है। विधान का आदर करने पर विवेक-विरोधी कर्म, सम्बन्ध तथा विश्वास का अन्त स्वत: हो जाता है जिसके होते ही कर्त्तव्यपरायणता, असंगता एवं शरणागति की अभिव्यक्ति अपने आप होती है जिसमें मानव का लेशमात्र भी प्रयास अपेक्षित नहीं है। मानव का प्रयास केवल प्राप्त विवेक के आदर में है, अर्थात् जाने हुए असत् के त्याग में है। सत् के संग और सर्वतोमुखी विकास के लिए साधन की अभिव्यक्ति मंगलमय विधान से स्वत: होती है। इस दृष्टि से विधान के आदर में ही मानव-जीवन की पूर्णता निहित है।

मानव भले ही, जो हो रहा है उसका प्रमादवश आदरपूर्वक स्वागत न करे, पर जो व्यक्ति का किया हुआ नहीं है वह समष्टि शक्तियों से निर्मित है। समष्टि शक्तियाँ मंगलमय विधान के अधीन हैं। यह सभी को

विदित है कि शक्ति पर-प्रकाश्य होती है। उसका उपयोग करने के लिए विधान अपेक्षित होता है। मानव-जीवन में सामर्थ्य के सदुपयोग का महत्त्व है, जो दुरुपयोग न करने पर स्वतः होने लगता है। सामर्थ्य का दुरुपयोग करना अपने ही द्वारा अपना विनाश करना है। शक्ति स्वतः कर्ता नहीं है, वह किसी विधान के आश्रय में कार्य करती है। यदि सामर्थ्य स्वयं कर्त्ता होती तो कोई भी सबल निर्बल पर अत्याचार कर ही नहीं सकता था। पर यह सभी का अनुभव है कि शक्ति का उपयोग किसी अन्य के द्वारा होता है। जिसके प्रकाश में शक्ति का उपयोग करना है, वह विधान है। जो प्राणी स्वार्थ-भाव में आबद्ध होकर किसी के विनाश में अपने विकास का प्रयास करते हैं, वे आरम्भ में भले ही सफलता अनुभव करें, पर परिणाम में अपना विनाश ही करते हैं। इस दृष्टि से विधान का बड़ा महत्त्व है।

किसी भी मानव को विधान-विरोधी कार्य में प्राप्त सामर्थ्य, वस्तु, योग्यता आदि के उपयोग का अधिकार नहीं है, अर्थात् मिली हुई स्वाधीनता का दुरुपयोग नहीं करना चाहिए। विधान पर कोई विजयी नहीं हो सकता। कारण कि अपार शक्ति विधान के अधीन है और विधान से किसी का अहित नहीं होता, क्योंकि विधान का निर्माण सर्वहितकारी सद्भावना से हुआ है। विधान उसी की विभूति है जो सभी का आश्रय तथा प्रकाशक है। विधान किसी व्यक्ति की उपज नहीं है, अपितु खोज है। खोज उसी की होती है जो विद्यमान है। राग-रहित होने पर ही मानव विधान की खोज कर सकता है। राग-रहित होने के लिए ही प्रत्येक उत्पत्ति में सतत परिवर्तन है। सतत परिवर्तन का अनुभव करते ही अनुत्पन्न तत्त्व की माँग मानव में स्वतः होती है। इस दृष्टि से परिवर्तन का विधान कितना मंगलमय है! यदि उत्पन्न हुई वस्तुओं में सतत परिवर्तन न होता तो पर-प्रकाश्य वस्तुओं से अतीत स्वयं-प्रकाश जीवन की माँग ही न होती। अतः जो हो रहा है उसमें सभी का मंगल है। करने और होने में एक बड़ा भेद है। कर्ता में

करने का राग अंकित होता है, होने का नहीं। किये हुए का राग मानव को पराधीनता तथा जड़ता में आबद्ध करता है जो विनाश का मूल है। विधान के अनुरूप की हुई प्रवृत्ति कर्ता को करने के राग से रहित करती है और प्रलोभन तथा भय में आबद्ध होकर की हुई प्रवृत्ति कर्ता में नवीन राग उत्पन्न करती है। विधान का आदर करने पर प्रलोभन तथा भय शेष नहीं रहते, कारण कि प्राप्त वस्तु, सामर्थ्य तथा योग्यता व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं है अर्थात् निर्ममता को अपना लेना विधान का आदर है। निर्मम होते ही निष्कामता स्वतः प्राप्त होती है जो विकास का मूल है।

जिस किसी मानव को जो कुछ मिला है वह उससे मिला है जो उसका परम सुहृद है और उसी के द्वारा निर्मित मंगलमय विधान है अर्थात् अपने को जो मिला है वह विधान से मिला है। मिले हुए के दुरुपयोग से निर्बलता स्वतः आती है और मिले हुए के सदुपयोग से उत्तरोत्तर बल की वृद्धि स्वतः होती है। बल के दुरुपयोग से निर्बलता और सदुपयोग से बल की वृद्धि होती है। मिले हुए के सदुपयोग एवं दुरुपयोग की स्वाधीनता मानव को प्राप्त है। किन्तु दुरुपयोग करने पर निर्बलता अवश्य आयेगी, इसमें मानव का कोई वश नहीं। इस कारण करने में सावधान रहना अनिवार्य है; किन्तु जो हो रहा है, वह मंगलकारी है, यह रहस्य तभी स्पष्ट होगा, जब होने में शान्त होकर, जो हो रहा है, उसका प्रभाव होने दिया जाय। आयी हुई निर्बलता से व्यथित होने पर बल के सदुपयोग की प्रेरणा मिलती है। यह होने के प्रभाव का ही तो परिणाम है। इस कारण होना मंगलकारी है। बाह्य दृष्टि से देखने पर शरीर का नाश अमंगलकारी प्रतीत होता है, किन्तु देहाभिमान गलाने की प्रेरणा और नवीन सुन्दर शरीर की उपलब्धि इस होने से ही तो सिद्ध होती है।

जो हो रहा है, उसका पूरा प्रभाव अपना लेने पर मिले हुए से अतीत में प्रवेश होता है और फिर किसी प्रकार की पराधीनता, जड़ता, अभाव एवं

नीरसता शेष नहीं रहती। इस दृष्टि से जो हो रहा है वह मंगलकारी है। करने में सावधान रहने की प्रेरणा, जो हो रहा है उसी के परिणाम से मिलती है। अत: जो हो रहा है, उसके प्रभाव को अपनाना है, उसमें प्रसन्न और शान्त रहना है। जो हो रहा है, उसमें व्यक्ति का अहं सम्मिलित नहीं होता, इस कारण होने में कर्त्तापन का अभिमान नहीं है; अपितु होना विधान से सम्बन्ध रखता है और करना व्यक्ति में से उत्पन्न होता है। इसी कारण करने के राग में आबद्ध मानव वह भी कर बैठता है जो नहीं करना चाहिए। किन्तु करने का फल समष्टि शक्तियों के द्वारा विधान के अधीन होता है। जो होता है वह मंगलमय है। 'जो हो रहा है', उसे आस्तिक भक्तों ने भगवान् की लीला मानकर भगवत्-प्रेम को प्राप्त किया, विचारकों ने उसके प्रभाव से प्रभावित होकर नित्य जीवन की खोज की और कर्त्तव्यनिष्ठ मानव ने उसके परिणाम को देख बल के सदुपयोग करने की प्रेरणा को अपनाया। अत: जो रहा है, वह सभी के लिए मंगलमय है।

शरीर और विश्व का विभाजन सम्भव नहीं है। इस दृष्टि से शरीर और विश्व दोनों का मालिक एक है, दो नहीं। किन्तु शरीर को अपना मानना और समस्त विश्व को अपना न मानना क्या विधान का अनादर नहीं है? अर्थात् अवश्य है। इस विधान के अनादर का बड़ा ही भयंकर परिणाम यह हुआ है कि दो व्यक्तियों, वर्गों, देशों तथा इज्मों एवं मजहबों में परस्पर संघर्ष उत्पन्न हो गया है जो विनाश का मूल है।

शरीर से तादात्म्य स्वीकार करना भूल है। यह भूल तभी होती है जब मानव वास्तविकता का आदर नहीं करता। वास्तविकता और विधान एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। कारण कि 'है' और 'नहीं' का स्पष्टीकरण ही तो वास्तविकता है, जो वैधानिक है। जब व्यक्तिगत कोई वस्तु है ही नहीं, तब वस्तुओं का दुरुपयोग करना, उनके संग्रह में रुचि रखना, उनका उपयोग सर्वहितकारी सद्भावना से न करना क्या जड़ता नहीं है? अर्थात्

अवश्य है। जड़ता में आबद्ध मानव चिन्मय जीवन से विमुख हो जाता है। इस कारण विधान का अनादर विनाश का मूल है।

मिली हुई वस्तु किसी की देन है। वस्तु पर अधिकार मानना और दाता को भूल जाना क्या विधान का अनादर नहीं है? अब यदि कोई यह कहे कि दाता को तो देखा नहीं। तो जो वस्तु अपनी नहीं है, वह किसी अन्य की अवश्य है। जिसकी वह वस्तु है उसने इस अनुपम ढंग से मानव को दी है कि उसे वह मिली हुई वस्तु अपनी ही प्रतीत होती है। पर विवेकरूपी प्रकाश से यह भी स्पष्ट होता है कि वह वस्तु अपनी नहीं है। 'अपनी' है और 'अपनी नहीं है'—इस पहेली पर विचार करने से यह स्पष्ट विदित होता है कि सदुपयोग मात्र के लिए तो मिली हुई वस्तुओं पर अपना अधिकार है और निर्मम होने के लिए वस्तु अपनी नहीं है। वस्तुओं का सदुपयोग करने पर व्यक्ति और समाज में एकता स्थापित होती है और निर्मम होने से मानव में निर्विकारता की अभिव्यक्ति होती है। उस दाता का कैसा अनुपम विधान है कि उसने उपयोग का तो अधिकार दिया है और ममता के त्याग का पाठ पढ़ाया है। एकता और निर्विकारता की प्राप्ति जिस मंगलमय विधान से होती है उसका आदर करना मानवमात्र के लिए अनिवार्य है। एकता में समस्त संघर्षों का विनाश है और निर्विकारता में सौन्दर्य विद्यमान है। संघर्ष का नाश और सौन्दर्य की अभिव्यक्ति विधान के आदर में निहित है। विधान का अनादर करने पर ही संघर्ष एवं असुन्दरता की उत्पत्ति होती है। अतएव विधान का अनादर करना भारी भूल है।

यह सभी को मान्य होगा कि मानव अपनी पराधीनता से परिचित है। जिस ज्ञान के द्वारा मानव को अपनी पराधीनता का परिचय होता है वह ज्ञान मंगलमय विधान से मानव को प्राप्त है। किन्तु जब तक मानव पराधीनता से रहित होने के लिए आकुल-व्याकुल नहीं होता, तब तक मिले

हुए ज्ञान का आदर नहीं करता। ज्ञान के अनादर में विधान का अनादर है और विधान के अनादर में अपना विनाश है। अत: निज ज्ञान का आदरपूर्वक अनुसरण करते ही विधान के आदर की सामर्थ्य और विधान का बोध स्वत: होता है। सर्वांश में विधान का बोध राग-रहित होने से ही होता है। पराधीनता असह्य हो जाने पर राग-रहित होने की सामर्थ्य स्वत: आ जाती है। इस दृष्टि से विधान के आदर से राग-रहित और राग-रहित होने से विधान का बोध होता है।

रागयुक्त प्राणी न तो विधान को जान ही पाता है और न उसका आदर ही कर पाता है। राग का अन्त करने के लिए ही न चाहने पर भी सुख चला जाता है। सुख के जाने पर दु:खी हो जाना विधान का अनादर है। सुख आने पर उसका उदारतापूर्वक सदुपयोग न करना, अपितु सुख में आसक्त हो जाना विधान-विरोधी कृत्य है। जिससे स्वत: हो रहा है वही विधान है। अर्थात् कर्त्तव्य के अभिमान तथा कामना से रहित जो गतिशीलता है वह विधान के आश्रित है। निष्कामता की प्राप्ति के लिए ही कामना-अपूर्ति का दु:ख तथा कामना-पूर्ति में पराधीनता का अनुभव होता है। यद्यपि कामना-पूर्ति-अपूर्ति की परिस्थिति मानवेतर अन्य योनियों में भी है, पर मानव विधान का महत्त्व न जानने के कारण कामना-अपूर्ति को अपना दुर्भाग्य और कामना-पूर्ति में अपना सौभाग्य मान बैठता है। यदि कामना-पूर्ति-अपूर्ति सौभाग्य तथा दुर्भाग्य है तो वह पशु-पक्षी आदि योनियों को भी प्राप्त है। मानव-जीवन में दुर्भाग्य केवल प्रमादवश विधान के अनादर से ही आता है और परम सौभाग्य तब उदित होता है जब मानव विधान का आदर कर निश्चिन्त तथा निर्भय होता है। विधान जिसका प्रकाश है, वही सर्व का प्रकाशक है। उसने विधान के पालन का दायित्व मानव को दिया है। अन्य योनियों में तो विधान का पालन कराया जाता है। अत: मानव को जो स्वाधीनता दी है, वह किसी और प्राणी को नहीं दी।

जिन प्राणियों ने सुख-दुःख के भोगने में ही जीवन-बुद्धि स्वीकार की है वे विधान का आदर नहीं कर सकते। मानव-जीवन में सुख-दुःख का भोग नहीं करना है, अपितु सदुपयोग करना है। सुख-दुःख के सदुपयोग की प्रेरणा वैधानिक है। कारण कि जिससे नित्य-सम्बन्ध नहीं रहता वह जीवन नहीं हो सकता। इस दृष्टि से सुख-दुःख साधन-सामग्री है, साध्य नहीं। साधन-सामग्री का सदुपयोग न करना विधान का अनादर है। विधान का आदर करने के लिए मानवमात्र को उत्साह-पूर्वक तत्पर रहना अनिवार्य है। विधान का आदर करने पर प्रत्येक परिस्थिति समान अर्थ रखती है, अर्थात् विषमता में समता का स्पष्ट दर्शन होता है, जो विकास का मूल है।

जिस प्रकार भूख, प्यास, सभी की समान है और तृप्ति में भी एकता है उसी प्रकार शान्ति, स्वाधीनता एवं प्रेम की प्राप्ति में भी सभी समान हैं। भोजन और साधन दो व्यक्तियों का भी सर्वांश में समान नहीं है। किसी न किसी अंश में विषमता रहती ही है। दो व्यक्तियों की भी रुचि, सामर्थ्य तथा योग्यता एक नहीं है, किन्तु लक्ष्य सभी का एक है। यदि इस वैधानिक तथ्य का आदर किया जाय, तो भोजन तथा साधन की भिन्नता रहने पर भी परस्पर एकता रह सकती है। लक्ष्य की एकता और योग्यता, रुचि, सामर्थ्य आदि भिन्नता स्वीकार करना विधान का आदर है। लक्ष्य की एकता मानव को प्रीति की एकता का पाठ पढ़ाती है और परिस्थिति की भिन्नता साधन की भिन्नता का आदेश देती है। प्रीति की एकता परस्पर संघर्ष का अन्त करती है और साधन की भिन्नता मानव-मात्र को स्वाधीनतापूर्वक साध्य से अभिन्न करती है। इस दृष्टि से भिन्नता और एकता का सदुपयोग करने पर सभी मानव कृतकृत्य हो सकते हैं। भिन्नता और एकता एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। सर्वतोमुखी विकास के लिए भिन्नता तथा एकता दोनों ही अपेक्षित हैं। इस दृष्टि से भिन्नता और एकता का होना वैधानिक है। भिन्नता के आधार पर प्रीति का भेद स्वीकार करना

परस्पर संघर्ष को जन्म देना है जो विनाश का मूल है। लक्ष्य की एकता होने पर भी प्रीति की एकता स्वीकार न करना परिच्छिन्नता तथा भेद को पोषित करना है जो ह्रास का मूल है।

वास्तविकता की माँग की जागृति वैधानिक तथ्य है और अस्वाभाविक इच्छाओं में आबद्ध हो जाना विधान का अनादर है। अब यदि कोई यह कहे कि भूख-प्यास आदि मूल प्रवृत्तियाँ (instincts) तो स्वाभाविक हैं। स्वाभाविक उसे नहीं कहते जिसके अन्त में अभाव ही शेष रहे। इच्छाओं के अनुरूप प्रवृत्ति का परिणाम क्या अभाव-रूप नहीं है? यदि है तो इच्छाएँ अस्वाभाविक हैं, स्वाभाविक नहीं। परन्तु विवेकरूपी विधान का अनादर करने पर देहाभिमान के कारण इच्छाओं में स्वाभाविकता प्रतीत होती है। किन्तु जब सभी कामनाएँ पूरी होती ही नहीं, तो कामनाओं को स्वाभाविक मानना क्या विधान का अनादर नहीं है? अर्थात् अवश्य है। सभी कामनाओं के मूल में जो मानव की स्वाभाविक माँग है, उसका अनुभव तभी होता है जब इस विधान का उत्साहपूर्वक आदर किया जाय कि कामना-पूर्ति-जनित सुख-लोलुपता वास्तविक जीवन नहीं है। सुखलोलुपता का अन्त करने के लिए ही कामना-अपूर्ति का विधान है। अत: कामना-अपूर्ति जनित वेदना कामना-पूर्ति जनित सुखलोलुपता के नाश के लिए साधन-रूप है। इस रहस्य को स्पष्ट जान लेने पर कामना-अपूर्ति में भी विकास निहित है।

कामना-पूर्ति तो केवल कौतूहल-मात्र है जिसके आरम्भ और अन्त में अभाव और मध्य में पराधीनता है। वह मानव की वास्तविक माँग नहीं हो सकती। इस दृष्टि से यह स्पष्ट विदित होता है कि कामना-पूर्ति मानव की माँग नहीं है, अपितु सुख-दु:ख की अनुभूति कराने में हेतु है। सुख की अनुभूति होने पर उदारता को और दु:ख की अनुभूति होने पर त्याग को अपनाना विधान का आदर है। सुख में उदारता को भूल जाना अपने

को सुखासक्ति में आबद्ध करना है, और दु:ख में त्याग को न अपनाना दु:ख से भयभीत होना है। सुख की दासता तथा दु:ख का भय तभी तक जीवित रहता है जब तक मानव विधान का आदर नहीं करता, जो अवनति का मूल है। सुख-दु:ख की अनुभूति के आधार पर ही मानव परिच्छिन्नता को जीवित रखता है, यद्यपि विधान के अनुसार सुख जाता है और दु:ख आता है। दोनों एक काल में नहीं रहते, परन्तु सुख-दु:ख के जाने-आने की गति इतनी तीव्र तथा सूक्ष्म है कि वर्तमान में दु:ख भोगते हुए भूतकाल की सुखद स्मृति और वर्तमान में सुख भोगते हुए भूतकाल की दु:खद स्मृति रहती है। स्मृति जिसकी होती है उसकी दूरी सिद्ध करती है। अत: दु:ख-काल में दु:ख और सुख-काल में सुख भले ही प्रतीत हो, पर ये दोनों एक साथ एक काल में नहीं रहते।

यदि दु:ख के आने पर सुख की स्मृति को महत्त्व न दिया जाय तो दु:ख का प्रभाव सुख के राग का अन्त कर सकता है। परन्तु मानव प्रमादवश दु:खकाल में सुखद स्मृतियों के आधार पर सुख की आशा करता रहता है। उसका परिणाम यह होता है कि न तो सुख ही रहता है और न दु:ख का प्रभाव ही हो पाता है। यह भूल मानव से तभी होती है जब वह गतिशील जीवन में स्थायित्व को स्थापित करना चाहता है। सुख-काल में यदि दु:खद स्मृति न रहे तो बड़ी ही सुगमता पूर्वक सुख की वास्तविकता का बोध हो सकता है, जिसके होते ही सदा के लिए पराधीनता-जनित सुख का प्रलोभन मिट जाता है, जो विकास का मूल है। उसी प्रकार दु:ख में यदि सुखद स्मृतियों को महत्त्व न दिया जाए तो दु:ख का प्रभाव दु:खी को दु:ख-रहित कर उस जीवन से अभिन्न कर देता है जिसमें शान्ति, स्वाधीनता एवं प्रेम से भिन्न कुछ नहीं है, जो मानव की वास्तविक माँग है। इस दृष्टि से सुख का जाना, दु:ख का आना जिस विधान से होता है वह कितना मंगलमय है!

अब यदि कोई यह कहे कि मंगलमय विधान मानव को स्वभाव से प्रिय क्यों नहीं है ? तो गम्भीरतापूर्वक विचार करने से यह स्पष्ट विदित होता है कि विधान उसी को प्यारा लगता है जो मानव अपने को साधक मानता है । जिसने यह अनुभव ही नहीं किया कि मानव-जीवन साधन-युक्त जीवन है, अर्थात् मानव का निर्माण साधन-निष्ठ होने के लिए ही है, उसे मंगलमय विधान स्वभाव से कैसे प्रिय लग सकता है ? यद्यपि प्राकृतिक नियमानुसार सर्वांश में अकर्त्तव्य, असाधन और आसक्ति किसी भी मानव में नहीं है, परन्तु मानव इस तथ्य को भूल जाता है और अपने को साधक मानने के लिए तत्पर नहीं होता । भला ऐसा कौन मानव है जिसकी कोई माँग न हो और जो स्वभाव से ही अपना कोई दायित्व न मानता हो । माँग और दायित्व का पुञ्ज ही तो मानव है । किसी उत्पन्न हुई वस्तु-मात्र का नाम मानव नहीं है ।

माँग क्या है ? इसका निर्णय तभी सम्भव होता है जब सुख-दुःख में जीवन-बुद्धि नहीं रहती । सुख भोगने पर दुःख विवश होकर भोगना पड़ता है । सुख भले ही भाता हो पर दुःख तो किसी को नहीं सुहाता । किन्तु इस विधान पर दृष्टि न रखने से कि सुख के भोगी को दुःख भोगना ही पड़ेगा, मानव कामना-पूर्ति-अपूर्ति-जनित पराधीनता में जीवन मान लेता है । पर उस मान्यता को सुरक्षित नहीं रख पाता । जो सम्भव नहीं है उसी को जीवन मान लेना विधान का अनादर है । उसका परिणाम यह होता है कि “मानव साधक है”, इसकी विस्मृति हो जाती है, जो विनाश का मूल है । जब मानव अपने को साधक मान लेता है तब उसे जो कुछ मिला है वह साधन-सामग्री से भिन्न कुछ नहीं प्रतीत होता । साधक को प्राप्त साधन-सामग्री का सदुपयोग करना है, उस सामग्री में ममता नहीं करना है और न उससे तद्रूप हो जाना है । मिले हुए में ममता न करने पर मिले हुए के सदुपयोग की सामर्थ्य मंगलमय विधान से स्वतः आ जाती है । मिले

हुए का सदुपयोग करने पर करने का राग शेष नहीं रहता। करने के राग का अन्त होते ही जो होना चाहिए वह स्वत: होने लगता है और उसका परिणाम यह होता है कि जो मिलना चाहिए वह बिना ही माँगे स्वत: प्राप्त होता है। प्राप्ति का अर्थ यह नहीं है कि जिससे जातीय एकता, नित्य सम्बन्ध एवं आत्मीयता सुरक्षित नहीं रह सकती, वह प्राप्त है। जिससे जातीय एकता तथा नित्य सम्बन्ध नहीं है पर उससे ममता है, वह प्राप्ति के अर्थ में नहीं आता। वह तो मिला हुआ है। मिले हुए के सदुपयोग का विधान है। उसमें ममता करना विधान का अनादर है। इस दृष्टि से प्राप्ति के अर्थ में केवल शान्ति, स्वाधीनता एवं प्रेम ही है। जिससे मानव-जीवन सभी के लिए उपयोगी होता है, उससे अभिन्न होने में विधान का आदर ही एकमात्र हेतु है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है जब मानव अपने को साधक स्वीकार करता है।

यदि मानव-जीवन में कोई माँग न होती और उस पर कोई दायित्व न होता तब तो मानव को साधक मानना भूल होती। परन्तु कोई भी मानव यह अनुभव नहीं करता कि मेरी कोई माँग नहीं है और मुझ पर कोई दायित्व नहीं है। भला ऐसा कौन मानव है जिसमें सन्देह-जनित वेदना से जिज्ञासा की जागृति न हो। यह कैसा अनुपम विधान है कि जो प्रत्यक्ष इन्द्रिय तथा बुद्धि-दृष्टि से देखने में आता है उस पर मानव को सन्देह होता है और फिर वह उसकी वास्तविकता को जानना चाहता है और अपने सम्बन्ध में भी यह जिज्ञासा करता है कि 'मैं' क्या हूँ, 'यह' क्या है। 'मै क्या हूँ, यह जिज्ञासा किसी विधान की ही देन है। जब तक जिज्ञासा सुषुप्तिवत् रहती है तब तक मानव में 'यह' की ममता तथा कामना रहती है। ममता तथा कामना से रहित जीवन का अनुभव भले ही न हो, पर ममता तथा कामना का दुष्परिणाम तो किसी भी मानव को अभीष्ट नहीं है। जो अभीष्ट नहीं है वह जीवन नहीं है। इसी कारण ममता और कामना के

त्याग का दायित्व मानव पर है जिसके पूरा करने पर निर्विकारता तथा परम शान्ति की अभिव्यक्ति उसी मंगलमय विधान से स्वतः होती है। निर्विकारता तथा शान्ति की उपलब्धि होने पर मानव स्वतः उनसे असंग होता है, और फिर यह प्रश्न कि 'मैं' क्या है, अपने आप हल हो जाता है।

यह कैसा मंगलमय विधान है कि जब मानव दायित्व पूरा करता है तब माँग पूरी होती है। दायित्व पूरा करने की सामर्थ्य विधान से मिलती है। इस दृष्टि से विधान मंगलकारी है। विधान में आस्था, श्रद्धा, विश्वास होने पर मानव करने में सावधान तथा होने में प्रसन्न रहता है। सावधानी कर्त्तव्यपरायणता की जननी है और प्रसन्नता क्षोभ तथा क्रोध के नाश में समर्थ है। कर्त्तव्यपरायणता से मानव जगत् के लिए और क्षोभ तथा क्रोध से रहित होने पर अपने लिए उपयोगी सिद्ध होता है। पर जिस विधान के आदर से मानव अपने लिए तथा जगत् के लिए उपयोगी होता है, उस विधान का विधायक न जाने कितना सुन्दर है! अब यदि कोई यह कहे कि विधान तो है पर विधायक नहीं है। यह कथन ऐसा ही होगा जैसे कोई कहे कि प्रकाश और उष्णता तो है, पर सूर्य नहीं है। इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि बुद्धि-दृष्टि से जो कुछ देखा जाता है उसको तो स्वीकार किया और जो बुद्धि का प्रकाशक है उसको अस्वीकार किया। उसके अस्वीकार करने पर भी वह सभी के लिए समान है। कारण कि यह तो उसी की महिमा है कि जिसने ऐसे मानव का निर्माण किया कि जो उसे ही अस्वीकार कर सकता है।

विधान का आदर करने पर जीवन अपने लिए और जगत् के लिए उपयोगी होता है, और विधायक में अविचल आस्था करने पर मानव विधायक के लिए उपयोगी होता है। पर यह रहस्य वे ही जान पाते हैं जिन्होंने अपनी माँग का सांगोपांग अनुभव किया है। मैं दुःखी हूँ मैं सुखी हूँ—यह तो प्राणीमात्र की अनुभूति है। पर जो विधान मानव को सुख की

दासता तथा दु:ख के भय से रहित होने के लिए प्रेरित करता है उसी विधान से प्राप्त विवेक के प्रकाश में मानव निर्ममता, निष्कामता एवं असंगता को अपनाकर यह अनुभव करता है कि मुझमें सुख की दासता अर्थात् पराधीनता की गन्ध भी नहीं है और मुझ तक दु:ख की भी पहुँच नहीं है। यदि यह महिमा मानव की अपनी थी तो उसने दीर्घकाल तक अपने को सुख की दासता और दु:ख के भय में आबद्ध क्यों किया? भला कोई स्वाधीन स्वेच्छा से पराधीनता, दु:ख तथा अभाव में आबद्ध होगा? कदापि नहीं। अब यदि कोई यह कहे कि सुख की दासता तथा दु:ख के भय से रहित होने के लिए विकास स्वत: होता है। तो क्या विकास के द्वारा उसकी प्राप्ति होती है जो नहीं है? अर्थात् प्राप्ति उसी की होती है जो सदैव है। इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि समस्त सृष्टि जिसकी ओर निरन्तर दौड़ रही है, जिज्ञासु उसी की खोज में और श्रद्धावान उसी की प्रीति में तत्पर हैं। खोजकर्ता अपनी खोज से अभिन्न होता है। प्रीति दूरी, भेद तथा भिन्नता नहीं रहने देती।

अत: कैसा अनुपम विधान है कि जिज्ञासु और श्रद्धालु दोनों ही अपनी-अपनी रुचि, सामर्थ्य एवं योग्यता के सदुपयोग द्वारा वास्तविक जीवन से अभिन्न होते हैं। जो जानने में आता है वह 'यह' के अर्थ में लिया जा सकता है, उसे 'मैं' कहना भूल है। बुद्धि-दृष्टि से जिसकी अनुभूति होती है वह 'यह' है। 'यह' के उपयोग में मानव का अधिकार है। 'यह' किसी मानव की व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं है। समस्त सृष्टि 'यह' के अर्थ में आती है। अतएव जिज्ञासु में यह प्रश्न स्वयं उत्पन्न होता है कि 'यह' से परे 'मैं' का बोध 'यह' के सहयोग से सम्भव नहीं है। अत: बुद्धि-दृष्टि से जब मानव 'मैं' को ही नहीं जान पाता तो, "विधान है, विधायक नहीं है," इसका निर्णय कैसे दे सकता है? आस्था करने अथवा न करने की स्वाधीनता तो मानव को विधान से ही प्राप्त है। पर यह निर्णय देने का

अधिकार कि "विधायक नहीं है, विधान स्वतः सिद्ध है", मानव को नहीं है। बेचारा बुद्धि की दासता में आबद्ध मानव विधान को मानता है और विधायक को मानने से इन्कार करता है। यह तो केवल बुद्धि की दासता में आबद्ध होने का परिणाम है। यह कैसा विचित्र विधान है कि विधायक को अस्वीकार करने की स्वाधीनता भी विधान से मानवमात्र को प्राप्त है। जिस बुद्धि के सहयोग से मानव 'यह' के सम्बन्ध में भी पूरा नहीं जान पाया है और 'मैं' के क्षेत्र में बुद्धि की पहुँच ही नहीं होती, फिर "विधान है, विधायक नहीं है", ऐसा निर्णय देना कहाँ तक युक्ति-युक्त है ? बुद्धि के सहयोग से जो कुछ जाना, अधूरा जाना। अधूरे ज्ञान में ही सन्देह की वेदना तथा जिज्ञासा की जागृति होती है। बुद्धि-दृष्टि जिज्ञासा की जागृति तक साथ देती है। जिज्ञासा की जागृति जब बुद्धि-जन्य सुखासक्ति से मानव को असंग कर देती है तब जिज्ञासा स्वतः पूरी हो जाती है, जिसके होने पर विधान और विधायक में उसी प्रकार अभिन्नता का बोध होता है जिस प्रकार सूर्य, किरण और प्रकाश में।

जिज्ञासा की भूख वास्तविकता के अस्तित्व को सिद्ध करती है। यह प्रकाश मानव को विधान से ही प्राप्त है। जो विधान मानव को अज्ञ रहने ही नहीं देता वह कितना अनुपम है ! अज्ञता की व्यथा से विज्ञता की लालसा स्वतः उदित होती है। जो अपना किया हुआ नहीं है, वह किसी का दिया हुआ है। अतः जिज्ञासा की जागृति किसी की देन है; पर देने का ढंग ऐसा अनुपम है कि मानव को यही प्रतीत होता है, मानो जिज्ञासा मेरी ही उपज है। यद्यपि जिज्ञासा को अपनी उपज मानने में कोई क्षति नहीं है, परन्तु वैधानिक दृष्टि से जिज्ञासा भूल जाने पर होती है और भूल जाने हुए की होती है, बिना जाने की नहीं। जब मानव अपने को किसी स्वीकृति तथा प्रतीति में आबद्ध कर लेता है तब जिज्ञासा शिथिल हो जाती है और कामनाएँ उत्पन्न होती हैं। पर जब सभी कामनाएँ पूरी नहीं होतीं

और कामना-पूर्ति काल में भी पराधीनता ही अनुभव होती है तब स्वाधीनता के पुजारी मानव में कामनाओं के त्याग की सामर्थ्य आती है। इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि स्वाधीनता का स्वतन्त्र अस्तित्व है। यदि प्रतीति से भिन्न उसका कोई प्रकाशक तथा आश्रय नहीं है, तो स्वाधीनता की माँग-पूर्ति प्रतीति के द्वारा कैसे सम्भव होगी? माँग उसी की होती है जो 'है'। प्रतीति की ममता, कामना एवं तादात्म्य ने उस तक पहुँचने नहीं दिया, जिसकी माँग है। प्रतीति में सतत परिवर्तनशीलता का दर्शन जिस विधान से होता है उसी विधान से स्वाधीनता की माँग पूरी होती है।

प्रतीति में सतत परिवर्तनशीलता जिस विधान से है उसी विधान से मानव को वह दृष्टि मिली है जिससे वह प्रतीति के परिवर्तन का अनुभव करता है। सतत परिवर्तन होने से प्रतीति का अस्तित्व ही सिद्ध नहीं है, केवल गतिशीलता है। प्रत्येक गति का आकर्षण बिना किसी अस्तित्व के सम्भव नहीं है। समस्त सृष्टि जिसकी ओर दौड़ रही है उसी की माँग मानव में है। पर सृष्टि से विमुख हुए बिना उससे अभिन्नता नहीं होती। जिसका संकेत सृष्टि की प्रत्येक गतिविधि निरन्तर कर रही है, वही विधान का विधायक है।

कर्म कर्ता का चित्र है। कर्म, कर्ता, और फल, ये कर्ता के ही रूपान्तर हैं। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है, जब कर्ता उन सभी प्रवृत्तियों का अन्त कर देता है जो सर्वहितकारी नहीं हैं। स्वार्थ-भाव में आबद्ध मानव कर्ता, कर्म और फल में जातीय-भेद मानता है, जो अवैधानिक है। स्वार्थ-भाव की उत्पत्ति पराधीनता में जीवन-बुद्धि स्वीकार करने से होती है। स्वाधीनता के पुजारी मानव को पराधीनता असह्य वेदना देती है। पराधीनता में असह्य वेदना का जाग्रत होना, उसी की देन है जो मानव को स्वाधीनता से अभिन्न करना चाहता है। पर इस रहस्य को वे ही मानव जान पाते हैं जिन्होंने अपने को मिली हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य आदि से

तद्रूप करके नहीं रखा है। मिले हुए से जिसने तादात्म्य कर लिया वह किसी की देन को अपनी उपज मान लेता है। पर दाता इतना उदार है कि उसे कोई क्षोभ नहीं होता, अपितु वह उसे भी उतना ही प्यार करता है जितना उसको जिसने तादात्म्य का अन्त कर दिया है। यद्यपि तादात्म्य के नाश की सामर्थ्य मानव-मात्र को प्राप्त है, परन्तु सुखासक्ति में आबद्ध होने से वह मिले हुए के तादात्म्य में ही अपने को आबद्ध कर लेता है, जो विनाश का मूल है। यह मानव का अपना बनाया हुआ दोष है, वैधानिक नहीं। अपने बनाये हुए दोषों का अन्त करने के लिए ही मानव को अनन्त के मंगलमय विधान से विवेक रूपी प्रकाश मिला है।

जब तक कर्ता फलासक्ति में आबद्ध है तब तक कर्ता, कर्म और फल में भेद है। फलासक्ति तथा कर्त्तव्य के अभिमान से रहित होने पर कर्ता कर्म होकर दूसरों के अधिकार की रक्षा कर स्वयं कर्म और फल से अभिन्न हो जाता है, अर्थात् कर्ता, कर्म और फल का भेद मिट जाता है, जिसके मिटते ही कर्ता उसी की प्रीति हो जाता है जिससे उसकी जातीय तथा स्वरूप की एकता है। जिस प्रकार कर्ता, कर्म और फल कर्ता का ही चित्र है उसी प्रकार विधान विधायक का चित्र है। कर्ता निष्काम होने पर कर्तापन से रहित होता है, पर विधान और विधायक में विधान के रहते हुए भी विधायक ज्यों का त्यों रहता है। सर्वांश में विधान का अनुसरण करने पर विधायक को न मानने पर भी विधायक की प्राप्ति होती है और विधायक को स्वीकार करने पर भी विधान का अनुसरण अनिवार्य होता है।

अनन्त का विधान अनन्त है। मानव ज्यों-ज्यों विधान का आदर करता जाता है, त्यों-त्यों उसे स्वयं विधान का बोध होता जाता है। विधान मानव की खोज है, उपज नहीं। खोज 'है' की होती है। अतएव जो विधान है उसी का बोध मानव को होता है। सर्वांश में विधान का आदर करने पर मानव की उससे अभिन्नता हो जाती है जिसका विधान है। विधान

उत्पत्ति-विनाशयुक्त नहीं है, अपितु अविनाशी है। इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि विधान अविनाशी का ही स्वभाव है। मानव विधान से अभिन्न होने पर अविनाशी से अभिन्न हो जाता है। अविनाशी उसे नहीं कहते जो कभी हो और कभी नहीं हो, कहीं हो और कहीं न हो और किसी का हो और किसी का नहीं हो, अर्थात् जो सदैव है, सर्वत्र है, सभी का है, वही अविनाशी है। इस दृष्टि से विधान का सर्वांश में आदर करने वाला विधान से अभिन्न हो जाता है। जब तक जीवन विधान नहीं होता तभी तक जीवन में पराधीनता, अभाव और नीरसता रहती है जो किसी भी मानव को अभीष्ट नहीं है। विधान का आदरपूर्वक अनुसरण करते ही अकर्त्तव्य् की उत्पत्ति नहीं होती और न कर्त्तव्य का अभिमान ही शेष रहता है, किन्तु कर्त्तव्यपरायणता स्वतः आ जाती है, जिसके आते ही मानव राग-रहित हो जाता है।

राग-रहित भूमि में ही योगरूपी वृक्ष स्वतः उगता है और उस पर तत्त्वज्ञान रूपी फल लगता है जो प्रेमरूपी रस से परिपूर्ण है अथवा यों कहो कि राग-रहित होते ही, योग, बोध और प्रेम की अभिव्यक्ति होती है। मानव को सजगता पूर्वक इस बात पर विशेष दृष्टि रखना है कि ज्यों ज्यों वह आंशिक विधान का आदर करता जाता है, उसका परिणाम स्वतः होता जाता है। किन्तु उसी आंशिक विकास में जीवन-बुद्धि स्वीकार करना विधान का अनादर है। सर्वांश में विधान का आदर करने पर अनन्त का विधान अनन्त से अभिन्न कर देता है। इस दृष्टि से सर्वांश में विधान का आदर करने पर विधायक को स्वीकार न करने पर भी उससे अभिन्नता हो जाती है। जब तक मानव सर्वांश में विधान का आदर नहीं करेगा तब तक किसी न किसी अंश में परिच्छिन्नता रहेगी जो मानव को वास्तविकता से अभिन्न नहीं होने देगी अर्थात् दूरी, भेद और भिन्नता नहीं मिटेगी अथवा यों कहो कि योग, बोध और प्रेम से अभिन्न नहीं होने देगी, जिसके बिना

हुए शक्तिहीनता, पराधीनता तथा नीरसता का सर्वांश में नाश न होगा। इस कारण परिच्छिन्नता का अन्त अनिवार्य है जो एकमात्र सर्वांश में विधान का आदर करने से ही साध्य है।

यद्यपि प्रकाश सूर्य नहीं है, किन्तु सूर्य से प्रकाश का विभाजन सम्भव नहीं है। उसी प्रकार विधान विधायक न होने पर भी विधान और विधायक में विभाजन नहीं हो सकता। इस कारण जो मानव विधायक को स्वीकार नहीं करते, पर सर्वांश में विधान का आदर करते हैं, वे भी विधायक से अभिन्न हो जाते हैं। इतना ही नहीं, जो 'है' उससे दूरी, भेद और भिन्नता, केवल विधान के भूल जनित अनादर से ही प्रतीत होती है। 'है' को स्वीकार करना, अथवा स्वीकार न करना 'है' की प्राप्ति में कोई विशेष महत्त्व नहीं रखता। अपनी-अपनी रुचि के अनुसार कोई विधायक को स्वीकार कर विधान का आदर करता है और विधायक से अभिन्न होता है और कोई सर्वांश में विधान का आदर कर विधायक से अभिन्न होता है। यह उस अनन्त की महिमा है कि उसकी उपलब्धि सभी को होती है। जिसकी उपलब्धि सभी को नहीं हो सकती उसको 'है' कहना ही भूल है। 'है' की स्वीकृति और अस्वीकृति दोनों ही पथ हैं। एक श्रद्धा का दूसरा सजगता का। श्रद्धा से 'है' का निर्माण नहीं होता, कारण कि जो स्वतः सिद्ध है उसकी उत्पत्ति नहीं होती। जिसकी उत्पत्ति नहीं होती उसका विनाश नहीं होता। 'है' कहते ही उसे हैं जो उत्पत्ति-विनाश-रहित है। स्वीकृति से प्रतीति और अस्वीकृति से निवृत्ति उसी की होती है जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, अर्थात् जो नहीं है। स्वीकृति से उसी की प्रतीति और अस्वीकृति से उसी की निवृत्ति होती है। जो विधायक सर्वत्र, सर्वदा, सभी का है उसको स्वीकार करो, अथवा न करो, किन्तु विधान के आदर करने मात्र से भी उसकी उपलब्धि होती है। मानव विधान को जानता है और उसका अनुसरण करता है पर विधायक उसे स्वयं अपना लेता है, यह उसकी महिमा है।

प्राप्त विवेक का आदर, अर्थात् ज्यों-ज्यों मानव विधान का अनुसरण करता जाता है त्यों-त्यों विधान से अभिन्न होता जाता है। विधान और जीवन में एकता होने पर ही विधान का स्पष्ट बोध होता है। विधान किसी की कल्पना नहीं है, अपितु वास्तविकता से परिचित होने का पथ है। विधान के अनुसरण में ही मानव-जीवन का आदर है। विधान-विरोधी प्रवृत्ति मानव में अमानवता को जन्म देती है जो विनाश का मूल है। अमानवता पशुता से भी गयी बीती है। किसी पशु को अमानव कहना पशु की निन्दा है। बेचारा पशु प्रकृति के उस विधान में आबद्ध है जो उसे सुख-दुःख का भोग कराता है। अमानवता में तो विधान-विरोधी प्रवृत्ति है जो सभी के लिए सर्वदा अहितकर है। अमानवता के रहते हुए विकास की तो कौन कहे, उत्तरोत्तर ह्रास ही होता रहता है। पशुता से ऊपर उठने के लिए वैधानिक अवसर है, किन्तु अमानवता तो मानव को विकासोन्मुख होने ही नहीं देती, अपितु विकास से विमुख ही करती है। इस दृष्टि से शीघ्रातिशीघ्र प्रत्येक मानव को अमानवता का अन्त करना अनिवार्य है जो एकमात्र विधान का अनुसरण करने पर ही सम्भव है।

प्राप्त ज्ञान के अनादर तथा बल के दुरुपयोग का परिणाम सदैव अहितकर ही सिद्ध होता है, यह वैधानिक तथ्य है। फिर भी मानव निज ज्ञान का अनादर तथा बल का दुरुपयोग कर बैठता है। यह मानव की अपनी भूल है, प्राकृतिक नहीं। अब यदि कोई यह कहे कि ऐसा विधान क्यों नहीं है कि मानव किसी भी प्रकार निज ज्ञान का अनादर तथा बल का दुरुपयोग न कर पाता? यदि यह बात वैधानिक हो जाती तो क्या मानव अपने-आप का अनुभव कर सकता था? कदापि नहीं। अपना भास होने से ही मानव सृष्टि के सम्बन्ध में विचार करता है। मानव विश्व नियन्ता की सर्वश्रेष्ठ रचना है। यदि उसे स्वाधीनता न मिली होती तो उसकी श्रेष्ठता सिद्ध नहीं होती। तब प्राप्त ज्ञान के अनादर और बल के दुरुपयोग

का प्रश्न ही नहीं उठता। किन्तु मानव के रचयिता को मानव इतना प्रिय है कि उसे उसकी स्वाधीनता रखते हुए उसको सभी के लिए उपयोगी होने की बात मंगलमय विधान में है।

विधान का अनुसरण प्रत्येक मानव को मानवता से अभिन्न कर देता है। मानवता की अभिव्यक्ति होने पर मानव जीवन सभी के लिए उपयोगी सिद्ध होता है। यह विधान की महिमा है। मानव स्वभाव से ही अपने में किसी न किसी प्रकार की निर्बलता पाता है, पर उसे सदैव निर्बल बना रहना अभीष्ट नहीं है। निर्बलताओं का ज्ञान प्राप्त विवेक के प्रकाश में ही होता है। निर्बलताओं का ज्ञान निर्बलताओं से रहित होने की प्रेरणा देता है। सीमित बल का दुरुपयोग करने पर ही निर्बलताएँ उत्पन्न होती हैं। प्राप्त बल के दुरुपयोग में विधान का अनादर है। विधान का आदर करने पर न तो मानव बल का दुरुपयोग ही करता है और न बल का अभिमान। मिले हुए बल का अभिमान मानव को परिच्छिन्नता में आबद्ध करता है। परिच्छिन्नता भेद तथा भिन्नता को जन्म देती है जो अवनति का मूल है। किसी की दी हुई वस्तु, सामर्थ्य, योग्यता को अपनी मान लेना और उससे तद्रूप होना विधान-विरोधी कृत्य है। विधान का आदर करते ही निर्ममता की अभिव्यक्ति होती है, जिसके होते ही निरभिमानता, समता, निर्विकारता आदि दिव्य गुणों से अभिन्नता होती है जो विकास का मूल है।

विधान का आदर करने पर मानव किसी अन्य से शासित नहीं होता और न उसे किसी पथ-प्रदर्शक की अपेक्षा होती है। कारण कि विधान अपने पर अपने शासन का पाठ पढ़ाता है और विधान का अनुसरण करने पर पथ का दर्शन स्वयं होता है। ज्यों-ज्यों मानव अपने पर अपना शासन करता जाता है, त्यों-त्यों उत्पन्न हुई निर्बलताएँ अपने आप मिटती जाती हैं और निर्दोषता से अभिन्नता होती जाती है। निर्बलताएँ उत्पन्न होती हैं इस कारण उनका विनाश होता है और निर्दोषता अनन्त का स्वभाव, अर्थात्

अनुत्पन्न-तत्त्व है, अत: अविनाशी है। इस दृष्टि से निर्बलताओं के नाश में ही निर्दोषता निहित है। सर्वांश में विधान का अनुसरण करने पर समस्त निर्बलताएँ सदा के लिए मिट जाती हैं। मानव ज्यों-ज्यों विधान का अनुसरण करता जाता है, त्यों-त्यों उसमें आवश्यक सामर्थ्य स्वत: आती जाती है। इस दृष्टि से विधान के अनुसरण में ही विधान के पालन की सामर्थ्य निहित है।

विधान का अनुसरण करने में मानव सर्वदा समर्थ तथा स्वाधीन है। वह विधान हो ही कैसे सकता है जिसका अनुसरण सहज तथा स्वाभाविक न हो। विधान के पालन में जो असमर्थता तथा अस्वाभाविकता प्रतीत होती है उसका कारण केवल निर्बलता-जनित सुखासक्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। निर्बलताओं में सुख-का भास तभी तक होता है जब तक मानव अपने को साधक स्वीकार नहीं करता, अर्थात् अपने दायित्व तथा साध्य से अपरिचित रहता है। यद्यपि मानव-जीवन में जिज्ञासा स्वभाव-सिद्ध है परन्तु कामना-पूर्ति का प्रलोभन जिज्ञासा को तीव्र नहीं होने देता। उस प्रलोभन का अन्त करने के लिए यह विधान है कि सभी कामनाएँ किसी की पूरी नहीं होतीं और माँग सभी की पूरी होती है। कामना-अपूर्ति-जनित व्यथा भले ही मानव को न भाती हो पर उस व्यथा के बिना कामना-पूर्ति की पराधीनता का नाश तथा कामना-निवृत्ति की शान्ति की अभिव्यक्ति ही नहीं होती। इस दृष्टि से कामना-अपूर्ति का विधान विकास का मूल है, पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है जब मानव अपने ही द्वारा अपनी माँग को जानने का प्रयास करता है। कामना-पूर्ति-जनित पराधीनता आरम्भ काल में सुखद भले ही प्रतीत हो किन्तु पराधीनता का परिणाम जड़ता तथा अभाव किसी भी मानव को अभीष्ट नहीं है। पराधीनता-जनित जड़ता तथा अभाव का अन्त हो सकता है, पर विधान का आदर करना अनिवार्य होगा। विधान-विरोधी कृत्य करते हुए पराधीनता का नाश सम्भव नहीं है।

अनुकूलता का चला जाना और प्रतिकूलता का आ जाना यद्यपि सुखद प्रतीत नहीं होता, परन्तु प्रतिकूलता के बिना क्या अनुकूलता की दासता मिट सकती है? कदापि नहीं। और जिसके बिना मिटे वस्तु, अवस्था, परिस्थितियों से असंगता हो ही नहीं सकती। असंगता के बिना चिन्मय, स्वाधीन जीवन से अभिन्नता किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है। इस दृष्टि से प्रतिकूलताओं के आने में मानव का विकास है। पर पराधीनता में जीवन-बुद्धि होने से अनुकूलता प्यारी लगती है और प्रतिकूलता खारी लगती है। वैधानिक दृष्टि से अनुकूलता उदारता के लिए आती है, पर मानव प्रमादवश उसका स्वयं भोग करने लगता है। उस प्रमाद का अन्त करने के लिए मंगलमय विधान से प्रतिकूलता आती है। प्रमाद का सर्वांश में अन्त होने पर प्रतिकूलता स्वत: सदा के लिए चली जाती है। इसी कारण विचारशील मानव प्रतिकूलता से भयभीत नहीं होते, अपितु उसका आदरपूर्वक स्वागत करते हैं।

यह सभी का अनुभव है कि मिली हुई सामर्थ्य, योग्यता आदि का उपयोग करने पर मानव असमर्थता का अनुभव करता है और कुछ काल के लिए प्रवृत्ति निवृत्ति में विलीन होती है, जिसके होते ही स्वत: सामर्थ्य आती है। यदि वह सामर्थ्य व्यक्ति की अपनी है तो असमर्थता का अनुभव क्यों हुआ? असमर्थता का अनुभव यह सिद्ध करता है कि सामर्थ्य व्यक्तिगत नहीं है, अपितु किसी की देन है। यह कैसा अनुपम विधान है जो असमर्थ होते ही सामर्थ्य प्रदान करता है और इस पर विचार ही नहीं करता कि असमर्थता सामर्थ्य के सदुपयोग से आई है अथवा दुरुपयोग से। दुरुपयोग और सदुपयोग यह मानव की रुचि है। विधान का विरोध करने पर दुरुपयोग और आदर करने पर सदुपयोग होता है। यह कैसा उदार विधान है कि वह दुरुपयोग करने पर भी सामर्थ्य प्रदान कर सदुपयोग करने का अवसर देता है। इस प्रकार का उदारता-पूर्ण विधान उसी का हो

सकता है जो सभी का अपना हो। अपने परम सुहृद के मंगलमय विधान का अनादर करना अपनी ही भूल है, जिसका मानव-जीवन में कोई स्थान नहीं है। स्वाधीनता-काल में ही विधान के आदर का प्रश्न है। परतंत्र तथा असमर्थ प्राणी पर विधान के पालन का दायित्व नहीं है। जिस अंश में मानव स्वाधीन तथा समर्थ है उसी अंश में उस पर दायित्व है विधान के अनुरूप कार्य करने का। असमर्थता तथा पराधीनता से पीड़ित होने पर स्वतः सामर्थ्य तथा स्वाधीनता की प्राप्ति होती है, पर मानव प्रमादवश उस प्राप्त सामर्थ्य तथा स्वाधीनता का दुरुपयोग कर बैठता है और फिर उसके परिणाम को भोगते समय विधान और विधायक को दोषी मानता है। यह मान्यता अपने को धोखा देती है, वास्तविकता से विमुख करती है। इस मान्यता का मानव के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है।

असमर्थता तथा पराधीनता की पीड़ा उसी समय तक रहती है जिस समय तक मानव सामर्थ्य का दुरुपयोग करता है। सामर्थ्य के दुरुपयोग न करने का अविचल निर्णय करते ही असमर्थता तथा पराधीनता स्वतः सदा के लिए मिट जाती है, पर यह रहस्य वे ही जान पाते हैं जिन्होंने मंगलमय विधान की खोज की है तथा उसका आदरपूर्वक पालन किया है। सीमित परिवर्तनशील पर-प्रकाश्य वस्तु, सामर्थ्य तथा योग्यता में आबद्ध होकर मानव असीम, अनन्त, नित्य, चिन्मय जीवन से विमुख न हो जाय, इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए प्राप्त वस्तु योग्यता आदि का ह्रास होता रहता है और आवश्यकतानुसार वस्तु आदि स्वतः प्राप्त होती रहती है। पर जब मानव अनेक बार अवसर मिलने पर प्राप्त वस्तु, सामर्थ्य आदि का सदुपयोग नहीं करता और उससे असंग नहीं होता, तब विधान से वस्तु सामर्थ्य आदि का अभाव अनुभव करने के लिए उसे विवश होना पड़ता है। यदि अभाव के अनुभव होने पर भी मानव वस्तु, योग्यता आदि से असंग तथा निष्काम हो जाय तो मंगलमय विधान मानव को वास्तविक जीवन से अभिन्न कर

देता है। इस दृष्टि से मानव-जीवन में असफलता के लिए कोई स्थान ही नहीं है। असफलता का दर्शन अवैधानिक है, अर्थात् मानव की भूल से होता है। असफलता जनित वेदना सफलता की जननी है। यह कैसा अद्‌भुत विधान है कि अभाव की वेदना में पूर्णता की प्राप्ति निहित है। आवश्यकता ही एकमात्र जिसकी प्राप्ति का उपाय है उससे निराश होने के समान और कोई भारी भूल नहीं है।

कामना-उत्पत्ति, पूर्ति तथा अपूर्ति-काल में प्रत्येक मानव को पराधीनता का ही अनुभव होता है। इस दृष्टि से कामना ही पराधीनता की जननी है। कामनाओं का उद्‌गम अविवेकसिद्ध है, अर्थात् मंगलमय विधान से प्राप्त विवेक का आदर न करने पर ही कामनाएँ उत्पन्न होती हैं जो मानव को पराधीनता, जड़ता तथा अभाव में आबद्ध करती हैं। इस दृष्टि से निष्कामता बड़े ही महत्त्व की वस्तु है। परन्तु जब तक मानव निर्मम नहीं होता, अर्थात् प्राप्त विवेक के प्रकाश में यह अनुभव नहीं करता कि प्राप्त वस्तु, सामर्थ्य तथा योग्यता अपनी नहीं है, तब तक निष्काम होना सम्भव नहीं है। निष्काम होने के लिए निर्मम होना अनिवार्य है जो विवेक-सिद्ध है, अर्थात् निष्कामता की प्राप्ति विधान के आदर से ही सम्भव है। विधान का अनादर करना अपने ही द्वारा अपना सर्वनाश करना है। विधान का महत्त्व अनुभव करने के लिए अपने पर अपने जाने हुए का प्रभाव अनिवार्य है। जाने हुए का प्रभाव किए हुए की आसक्ति के नाश में समर्थ है। आसक्ति का नाश होते ही नित्य योग की प्राप्ति तथा भोग के राग की निवृत्ति स्वत: होती है और आसक्ति का अन्त केवल जाने हुए का आदर करने में ही निहित है। इस कारण विधान का पालन सर्वतोमुखी विकास का मूल है।

कामनाओं की निवृत्ति तथा जिज्ञासा की पूर्ति एवं प्रेम की प्राप्ति विधान के पालन में ही है। निष्कामता से उदित परम-शान्ति तथा

जिज्ञासा-पूर्ति से प्राप्त वास्तविकता एवं प्रेम से नित-नव रस की अभिव्यक्ति में ही मानव-जीवन की पूर्णता है। इस दृष्टि से कामनाओं की निवृत्ति, जिज्ञासा की पूर्ति एवं प्रेम की प्राप्ति में ही जीवन है जो विधान का आदर करने पर मानव को स्वत: प्राप्त होता है।

अल्प से अल्प आयु, वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य होने पर भी मानव को वास्तविक जीवन से निराश नहीं होना चाहिए। कारण कि वास्तविक जीवन से मानव-मात्र की जातीय तथा स्वरूप की एकता है। मिली हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य आदि से मानव की जातीय भिन्नता है। वस्तु, योग्यता आदि की जातीय एकता 'यह' अर्थात् सृष्टि के साथ है, 'मैं' के साथ नहीं। मानव साधक है, शरीर आदि वस्तु नहीं। साधक पर मिले हुए के सदुपयोग का दायित्व है। जो नहीं कर सकता वह मानव को नहीं करना है और विधान-विरोधी, अर्थात् जो नहीं करना चाहिए वह भी नहीं करना है। इस दृष्टि से जो करना चाहिए तथा जिसे कर सकते हैं वही करना है, और उसी का यह फल होगा कि वह वास्तविक जीवन से अभिन्न हो जायेगा। जब ऐसा, उदारता तथा स्नेह से परिपूर्ण विधान है तब अल्प से अल्प सामर्थ्य होने पर भी वास्तविकता से निराश होने के लिए कोई स्थान नहीं है। इतना ही नहीं, आवश्यकतानुसार आयु, सामर्थ्य, योग्यता एवं वस्तु, सफलता के लिए मानव को मंगलमय विधान से स्वत: मिलती रहती है। पर जब मानव प्रमादवश वस्तु, योग्यता आदि को ही जीवन मान बैठता है तब उसे पराधीनता तथा अभाव-जनित वेदना सहनी ही पड़ती है, यद्यपि वेदना की उत्पत्ति में भी विकास ही होता है, ह्रास नहीं। अत: मानव-जीवन में वास्तविकता से निराश होने के लिए कोई स्थान नहीं है। मंगलमय विधान में अविचल आस्था न होने से ही मानव निराश होता है जो उसका अपना बनाया हुआ दोष है। करने में सावधान तथा होने में प्रसन्न रहने से मंगलमय विधान में अविचल आस्था स्वत: हो जाती है जो सर्वतोमुखी विकास का

मूल है। विवेक-विरोधी कर्म, सम्बन्ध तथा विश्वास का अन्त करने पर करने में सावधानी स्वतः आ जाती है, जिसके आते ही प्रत्येक कार्य के अन्त में निश्चिन्तता तथा निर्भयता की अभिव्यक्ति होती है और फिर जो हो रहा है उसमें अपने हित का ही दर्शन होता है जो प्रसन्नता प्रदान करने में हेतु है।

मिले हुए का आश्रय बनाए रखना और उसका सदुपयोग न करना विधान-विरोधी कार्य है। मिले हुए का आश्रय सर्वाधार से विमुख करता है और उससे विमुख होते ही मानव उसमें आबद्ध हो जाता है जिसकी प्रतीति तो होती है, पर प्राप्ति नहीं होती, अर्थात् प्रतीति के आकर्षण से मानव को नित्य-प्राप्त की विस्मृति हो जाती है जिसके होते ही उत्पन्न हुई वस्तु, परिस्थिति, अवस्था आदि से तादात्म्य हो जाता है और फिर उसकी दृष्टि बिना दृश्य के स्थिर नहीं होती, और दृश्य में स्थिरता नहीं है। ऐसी दशा में चित्त बिना आधार के शान्त नहीं होता। उसका परिणाम यह होता है कि उसका चिन्तन होने लगता है जो 'नहीं' है। 'नहीं' के चिन्तन ने ही, जो 'है' उससे दूरी, भेद तथा भिन्नता का भास कराया है, जिसकी निवृत्ति केवल विधान के आदर में ही निहित है। विधान का आदर करते ही मिले हुए का आश्रय मिट जाता है और फिर सर्वाधार का आश्रय मिल जाता है जिसको पाकर मानव प्रतीति से विमुख होकर वास्तविकता से अभिन्न होता है। मिले हुए का दुरुपयोग करने पर मिले हुए की आसक्ति नाश नहीं होती, अपितु मिले हुए के न रहने पर भी उसकी ममता तथा कामना ज्यों की त्यों रहती है। ममता विकारों की और कामना अशान्ति की जननी है। विधान का आदर करने पर मिले हुए के दुरुपयोग की रुचि नाश हो जाती है जिसके होते ही सदुपयोग स्वतः होने लगता है और फिर मिले हुए से असंगता हो जाती है जो वास्तविक जीवन से अभिन्न करने में समर्थ है। अतः मानव-जीवन में विधान-विरोधी कृत्य का कोई स्थान ही नहीं है।

समस्त साधनों की अभिव्यक्ति वैधानिक तथ्य है। विधान का अनादर करने पर ही असाधन उत्पन्न होते हैं। असाधन के साथ-साथ बलपूर्वक किया हुआ साधन वर्तमान में सिद्धिदायक नहीं होता और मानव-जीवन का महत्त्व वर्तमान में सिद्धि प्राप्त करना है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है जब मानव सर्वांश में विधान का आदर कर असाधन से रहित होता है। विधान के आदर का अर्थ है कि जाने हुए के अनुरूप ही कर्म हो, अर्थात् उन सभी प्रवृत्तियों का अन्त हो जाय जो विवेक-विरोधी हैं। किए हुए का परिणाम कर्ता को विवश होकर भोगना पड़ता है और कर्म का सम्बन्ध 'पर' के प्रति होता है। अत: दूसरों के प्रति की हुई भलाई अथवा बुराई अपने प्रति होती है, इस दृष्टि से किसी भी मानव को किसी के प्रति किसी भी परिस्थिति में बुराई करनी ही नहीं चाहिए। प्राप्त बल का उपयोग निर्बलों की सेवा तथा अपनी रक्षा में कर सकते हैं, किसी के विनाश में नहीं। यह तभी सम्भव होगा जब मानव का हृदय सर्व-हितकारी सद्भावना से भरपूर रहे। सद्भावना की अभिव्यक्ति तभी होती है जब मानव विवेक-विरोधी सम्बन्ध तथा विश्वास का अन्त कर दे। विवेक-विरोधी सम्बन्ध तथा विश्वास का अन्त करते ही स्वत: निर्ममता तथा निष्कामता एवं असंगता प्राप्त होती है। निर्ममता से निर्विकारता, निष्कामता से शान्ति और असंगता से स्वाधीनता की अभिव्यक्ति होती है। इस दृष्टि से विवेक-विरोधी कर्म तथा सम्बन्ध के त्याग से मानव कर्त्तव्य-निष्ठ एवं असंग होता है।

कर्त्तव्यपरायणता जगत् के लिए और असंगता अपने लिए उपयोगी सिद्ध होती है। यह विधान के आदर की महिमा है। विवेक-विरोधी विश्वास का अर्थ है उत्पन्न हुई वस्तु, अवस्था, परिस्थिति में विश्वास। जब यह स्पष्ट ही है कि वस्तु, अवस्था, परिस्थितियों में सतत परिवर्तन है तो उनका विश्वास विधान-विरोधी विश्वास है। विधान-विरोधी विश्वास

के त्याग में ही प्रभु-विश्वास की अभिव्यक्ति होती है, जिसके होते ही मानव में शरणागत होने की सामर्थ्य आ जाती है। शरणागत होते ही मानव शरण्य के लिए उपयोगी सिद्ध होता है, अर्थात् शरणागत शरण्य की प्रीति हो जाता है। प्रीति में उसी की सत्ता होती है जिसकी वह प्रीति है। अतः प्रीति होकर मानव उसके लिए उपयोगी होता है जो सर्व का आश्रय तथा प्रकाशक है और जिसकी कृपा-शक्ति ने भोगार्थी को कर्म-सामग्री और मोक्षार्थी को विचार प्रदान किया है। कर्म-सामग्री किसी मानव की व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं है और कर्मानुष्ठान के लिए कर्त्तव्य का ज्ञान भी उसे मिला है। वैधानिक दृष्टि से मिले हुए के सदुपयोग में ही मानव का अधिकार है।

किये हुए सदुपयोग तथा दुरुपयोग का फल विधान-निर्मित है। यद्यपि दुरुपयोग करने की प्रेरणा वैधानिक नहीं है, परन्तु मानव विवेक-विरोधी कर्म द्वारा प्राप्त कर्म-सामग्री का दुरुपयोग कर बैठता है जो, ह्रास का मूल है। विधान का आदर करने पर विवेक-विरोधी कर्म, सम्बन्ध तथा विश्वास का अन्त स्वतः हो जाता है, जो विकास का मूल है। अब यदि कोई यह कहे कि उत्पन्न हुई वस्तु, अवस्था, परिस्थितियों के विश्वास का अन्त करना तो अनिवार्य है, कारण कि जिससे नित्य सम्बन्ध सम्भव नहीं है उसका विश्वास भूल के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, परन्तु बिना जाने प्रभु के विश्वास की क्या आवश्यकता है? इस सम्बन्ध में विचार करने से यह स्पष्ट विदित होता है कि यदि मानव निर्विकारता, शान्ति एवं स्वाधीनता में सन्तुष्ट है और वह अपने में किसी प्रकार की परिच्छिन्नता नहीं पाता है तथा उसमें भेद और भिन्नता की गन्ध भी नहीं रहती, तब तो प्रभु-विश्वास अपेक्षित नहीं है, परन्तु यदि मानव पूर्व-परिस्थिति पर विचार करे तो उसे यह स्वीकार करना पड़ता है कि जिस साधन से मुझे निर्विकारता, शान्ति और स्वाधीनता प्राप्त हुई, वह साधन किसकी देन है? यदि वह

अपनी ही है तो फिर असाधन क्यों उत्पन्न हुआ, जिसके कारण मानव अशान्ति, पराधीनता, जड़ता आदि में आबद्ध हो गया? असाधन का मूल, विधान का अनादर है।

यदि समस्त साधन अपनी ही विभूति है तो विधान का अनादर क्यों किया? इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि विधान के अनादर में मानव की भूल ही हेतु है। भूल जाने हुए की होती है, अर्थात् विधान के जानते हुए भी उसका अनादर मानव ही ने किया। जो भूल कर सकता है, वह स्वरूप से साधन-युक्त नहीं है। हाँ, यह अवश्य है कि भूल का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं होता, इस कारण भूल के नाश से ही असाधन सदा के लिए नाश हो जाता है और साधन-तत्त्व से, जो साध्य का स्वभाव होने से अविनाशी है, मानव की अभिन्नता होती है। असाधन को मानव अपने में आरोप करता है और साधन से अभिन्न होता है। यह वैधानिक तथ्य है कि अभिन्नता उसी से होती है जो नित्य तत्त्व है और आरोप तथा तादात्म्य उसी से होता है जो अभाव-रूप है। इस दृष्टि से यह स्पष्ट ही है कि जिसने भूल का अन्त करने के लिए सामर्थ्य प्रदान की उसने इस उदारता से की कि वह सामर्थ्य मानव को अपनी ही मालूम हुई, किसी की देन नहीं मालूम हुई। इसका अर्थ यह नहीं है कि यदि कोई इतना अपना है जो अपने से भी अधिक अपना हितैषी है तो उसमें आस्था, श्रद्धा, विश्वास न किया जाय। इसका परिणाम यह होगा कि दोनों ही बातें अपनी ही अवस्थायें होंगी। यदि पुनः पूर्वावस्था हो गई तो निर्विकारता, शान्ति, स्वाधीनता वास्तविक न रह कर काल्पनिक हो जायेगी। इस कारण अविनाशी जीवन के अस्तित्व को स्वीकार करना निर्विवाद सिद्ध है। तभी मानव सदा के लिए वस्तु, अवस्था, परिस्थितियों की दासता से रहित वास्तविक जीवन से अभिन्न हो सकता है।

पराधीनता, जड़ता, अभाव आदि का अभाव तभी सम्भव होगा जब पराधीनता आदि का कारण अपनी भूल स्वीकार की जाय। विधान के अनादर के अतिरिक्त भूल का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। विधान है, मानव को उसका बोध है, पर असावधानी से जाने हुए का प्रभाव न अपनाकर किए हुए की आसक्ति में आबद्ध हो जाने से भूल पोषित होती है। विधान से प्राप्त वेदना से भूल का अन्त होता है, जिससे किए हुए की आसक्ति मिट जाती है और जाने हुए का प्रभाव हो जाता है, जिसमें सर्वतोमुखी विकास निहित है।

इन्द्रिय-दृष्टि, बुद्धि-दृष्टि तथा विवेकरूपी प्रकाश मानव को जन्मजात प्राप्त है। यह वैधानिक तथ्य है कि दृष्टि और दृश्य प्रकाश के आश्रित ही रहते हैं, अर्थात् विवेकरूपी प्रकाश से ही इन्द्रिय तथा बुद्धि-दृष्टि कार्य करती हैं और दृश्य की प्रतीति भी प्रकाश के ही आश्रित है। दृश्य में सतत परिवर्तन होने से इन्द्रिय-दृष्टि का प्रभाव स्थिर नहीं रहता, जिसके न रहने पर बुद्धि-दृष्टि का प्रभाव दृश्य से विमुख करने में समर्थ होता है जिसके होते ही समस्त दृश्य अहम् में विलीन हो जाता है, परन्तु राग के रहते हुए पुनः दृष्टि उदित होती है, जिसके होने से पराधीनता, जड़ता, अभाव ही प्रतीत होता है। मानव-जीवन में अभाव के अभाव की माँग है। इन्द्रिय-दृष्टि के प्रभाव का अन्त होते ही दृश्य का राग शेष नहीं रहता। राग-रहित होते ही स्वतः दृश्य और दृष्टि दोनों ही अपने उद्गम में विलीन होते हैं। इसी दशा में विधान का बोध होता है, जिसके होते ही मानव सुगमतापूर्वक वास्तविक जीवन से अभिन्न हो जाता है अर्थात् जीवन और विधान में भेद नहीं रहता। जीवन ही विधान है और विधान ही जीवन है, यह विधान की ही महिमा है।

विधान का बोध वीतराग मानव को ही होता है। जिसके होते ही कर्त्तव्य की, निज-स्वरूप की तथा प्रभु की स्मृति स्वतः जाग्रत होती है, जो

सर्वतोमुखी विकास में हेतु है। विस्मृति भूल का परिणाम है, अर्थात् जाने हुए के अनादर से ही विस्मृति होती है। कर्त्तव्य की विस्मृति में अकर्त्तव्य की, स्वरूप की विस्मृति में देहाभिमान की एवं प्रभु की विस्मृति में आसक्तियों की उत्पत्ति होती है। परन्तु मंगलमय विधान से, अकर्त्तव्य कभी भी सर्वांश में कर्त्तव्य की स्मृति का नाश नहीं कर पाता। इसी कारण अकर्त्तव्य की उत्पत्ति होने पर भी आंशिक कर्त्तव्य रहता ही है अर्थात् अकर्त्तव्य की उत्पत्ति सर्वांश में कर्त्तव्य की विस्मृति नहीं कर पाती। इसी कारण मानव में अकर्त्तव्य के नाश तथा कर्त्तव्यंपरायणता की माँग रहती है। कर्त्तव्य की स्मृति में ही अकर्त्तव्य का नाश है। कर्त्तव्य की स्मृति और उसके पालन की सामर्थ्य मानव को विधान से प्राप्त होती है। इस दृष्टि से विधान के अनुरूप जीवन हो सकता है। विधान और जीवन का भेद प्रमाद-जनित है, वास्तविक नहीं। देहाभिमान होने पर भी जिज्ञासा रहती है। यद्यपि देहाभिमान-जनित कामनाएँ जिज्ञासा को शिथिल बनाती हैं, परन्तु कामनाओं के उत्पन्न होने पर जिज्ञासा नाश नहीं होती। तीव्र जिज्ञासा की जागृति कामनाओं के नाश में समर्थ है। कामनाओं का नाश होते ही जिज्ञासा-पूर्ति के लिए मंगलमय विधान से स्वतः विचार की अभिव्यक्ति होती है जो अविचार का अन्त कर निःसन्देहता प्रदान करने में समर्थ है। जिस प्रकार काष्ठ से उत्पन्न हुई अग्नि काष्ठ को भस्मीभूत कर स्वतः शान्त होती है उसी प्रकार विचार-रूपी सूर्य अविचार-रूपी अन्धकार को नाश कर, वास्तविकता से अभिन्न होता है।

कामनाओं की निवृत्ति तथा जिज्ञासा की पूर्ति होने पर, जो 'है' उसकी स्मृति स्वतः उदित होती है और सभी आसक्तियों का अन्त कर मानव को अगाध, अनन्त, नित-नव प्रियता से अभिन्न कर देती है। प्रियता उसी का स्वभाव है जिसकी वह प्रियता है। आसक्ति तथा प्रियता में भेद यह है

कि आसक्ति जिसमें उत्पन्न होती है उसको अपने से अभिन्न नहीं कर पाती अर्थात् आसक्त और आसक्ति में भिन्नता रहती है, किन्तु प्रियता जिसमें जाग्रत होती है उसे अपने से अभिन्न कर लेती है। इस कारण प्रियता जाग्रत होने पर परिच्छिन्नता, भेद तथा भिन्नता शेष नहीं रहती, यह मंगलमय विधान है।

जो कुछ नहीं कर सकता वह किसी प्रकार की बुराई भी नहीं कर सकता। बुराई-रहित होते ही भलाई स्वत: होती है, यह विधान है। सामर्थ्य के रहते हुए की हुई बुराई न दुहराने का और जानी हुई बुराई न करने का विधान है। अत: विधान का आदर करते ही बुराई का नाश तथा भलाई की अभिव्यक्ति स्वत: होती है। बुराई-रहित भलाई होने पर भलाई का अभिमान नहीं रहता। बुराई के साथ-साथ की हुई भलाई ही मानव में अभिमान उत्पन्न करती है जो विनाश का मूल है। जिसे बुराई का ज्ञान है वही मानव है और उसी पर यह दायित्व है कि बुराई को बुराई जानने पर उसका सदा के लिए त्याग करे। बुराई का न दुहराना तथा न करना ही उसका त्याग है। बुराई-रहित जीवन की माँग सभी को स्वभाव से है। इस दृष्टि से विधान का आदर करना मानवमात्र के लिए अनिवार्य है विधान के अनादर में मानव-जीवन का अनादर है। विधान की अधीनता, स्वाधीनता की जननी है और विधान का अनादर, जड़ता, पराधीनता तथा अभाव में आबद्ध करता है। इस कारण विधान के अनादर का मानव-जीवन में कोई स्थान ही नहीं है।

अब यदि कोई यह कहे कि विधान के अनादर की प्रवृत्ति मानव में क्यों उत्पन्न होती है ? तो इस समस्या पर विचार करने से यह स्पष्ट विदित होता है कि दायित्व पूरा करने का अधिकार मानव को मिला है। इस स्वाधीनता का दुरुपयोग करने पर ही मानव में विधान-विरोधी प्रवृत्ति उत्पन्न

होती है। यदि मानव को विधान से स्वाधीनता न मिलती तो मानव और मानवेतर में भेद ही क्या होता ? मानव पर विधायक ने यह विश्वास किया है कि वह विधान का आदर करेगा। विधायक की उदारता के दुरुपयोग से ही विधान-विरोधी प्रवृत्ति पोषित होती है। उदारता का दुरुपयोग कर्त्ता की भूल है। उसे वैधानिक तथ्य नहीं कह सकते। वैधानिक तथ्य तो यही है कि भूल को भूल जान लेने पर उसका सदा के लिए अन्त करना है अथवा यों कहो कि भूल का ज्ञान जिस विधान से होता है वह विधान भूल-रहित होने की प्रेरणा देता है। इतना ही नहीं, भूल का ज्ञान और उसकी निवृत्ति उसी प्रकार युगपत् हैं जिस प्रकार सूर्य का उदय, अन्धकार की निवृत्ति तथा प्रकाश की प्राप्ति।

जो नहीं करना चाहिए तथा जिसे नहीं कर सकते, इसका ज्ञान मानव को विधान से प्राप्त है। इस विधान का आदर करने पर अशुद्ध तथा अनावश्यक कर्म मिट जाते हैं, कारण कि जो नहीं करना चाहिए उसके नहीं करने पर अशुद्ध कर्म नहीं रहते और जो नहीं कर सकते उन संकल्पों का त्याग करने पर अनावश्यक कार्य जमा नहीं रहते। उसका परिणाम यह होता है कि जो कर सकते हैं और जो करने योग्य है वह कार्य पूरा हो जाता है। कार्य की पूर्ति होने पर यदि कर्ता में कर्म की फलासक्ति नहीं है तो अपने-आप विश्राम की अभिव्यक्ति होती है। अनावश्यक कार्य का जमा रखना, न करने योग्य कार्य करना तथा कर्त्तव्य-कर्म में फलासक्ति रखना विश्राम में बाधक है। विश्राम ही में आवश्यक सामर्थ्य की अभिव्यक्ति, विचार का उदय एवं प्रीति की जागृति स्वत: होती है जो विकास का मूल है। विश्राम के सम्पादन में मानव असमर्थ तथा पराधीन नहीं है। विश्राम के सम्पादन की स्वाधीनता मानव को विधान से मिली है। पर विधान के अनादर से ही आज मानव विश्राम-प्राप्ति में भी अपने को असमर्थ तथा परतन्त्र मान बैठा है। सामर्थ्य की अभिव्यक्ति के बिना

कर्त्तव्यपरायणता और विचार का उदय हुए बिना देहाभिमान का नाश एवं प्रीति की जागृति के बिना अनन्त रस की अभिव्यक्ति सम्भव नहीं है। इस दृष्टि से विश्राम का सम्पादन बड़े ही महत्त्व की वस्तु है। कैसा अनुपम विधान है कि श्रम-रहित होते ही सब कुछ प्राप्त होता है अर्थात् सब प्रकार के अभाव का अभाव हो जाता है। यदि वास्तविकता की प्राप्ति श्रम-साध्य होती तो उसका अधिकारी कोई एक मानव होता, सभी के लिए सम्भव नहीं था, कारण कि सर्वांश में समान योग्यता, सामर्थ्य, रुचि के दो व्यक्ति भी नहीं हैं। श्रम-रहित होने पर जिस जीवन की प्राप्ति होती है वह प्रत्येक मानव को मिल सकता है, कारण कि सामर्थ्य, योग्यता आदि का भेद होने पर भी आवश्यक कार्य के अन्त में विश्राम सभी को मिलता है और आवश्यक कार्य पूरा करने में प्रत्येक मानव स्वतन्त्र है। इस दृष्टि से मानव-मात्र वास्तविक जीवन का अधिकारी है, यह मंगलमय विधान है।

वस्तु, अवस्था, परिस्थितियों में आबद्ध मानव पराधीनता, विषमता, दीनता तथा अभिमान से दग्ध होता रहता है, कारण कि परिस्थिति आदि में समता नहीं है। यह कैसा अनुपम विधान है कि भिन्न-भिन्न परिस्थितियाँ होने पर भी परिस्थितियों के अर्थ में कोई भेद नहीं है और परिस्थितियों से अतीत के जीवन में भी भेद तथा भिन्नता नहीं है और प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग करने पर प्रत्येक मानव का परिस्थितियों से अतीत के जीवन में प्रवेश होता है। इस दृष्टि से परिस्थिति-भेद है पर वास्तविकता से अभिन्न होने में सभी समान हैं, परन्तु जब मानव प्रमादवश परिस्थिति को ही जीवन मान लेता है तब वास्तविकता से निराश होने लगता है, जो वैधानिक नहीं है। विधान का आदर करने पर प्रत्येक मानव स्वाधीनतापूर्वक वास्तविक जीवन से अभिन्न हो सकता है।

असाधन-रहित प्रत्येक साधन सिद्धिदायक है, यह मंगलमय विधान है। अपने-अपने जाने हुए असाधन के त्याग का दायित्व मानव-मात्र पर

है, किन्तु विध्यात्मक साधन व्यक्तिगत है। व्यक्तिगत साधन को सामूहिक बनाने का प्रयास साधन में असाधन को जन्म देता है, कारण कि योग्यता, रुचि, सामर्थ्य आदि का भेद होने पर व्यक्तिगत साधन सामूहिक रूप से सम्भव न होगा। यद्यपि व्यक्तिगत साधन भी साधन है, परन्तु सभी के लिए सम्भव न होने के कारण उसका आग्रह करना, बलपूर्वक कराने का प्रयास करना साधक के प्रति घोर अत्याचार है। अपनी रुचि, योग्यता, सामर्थ्य के अनुरूप अपने साधन में अपने प्रति आग्रह होना चाहिए। आग्रह से दृढ़ता आयेगी, जो साधन में तत्परता प्रदान करेगी। अपने व्यक्तिगत साधन का दूसरों के प्रति आग्रह करना भूल है। जब साधक और साधन में एकता नहीं होती तब साधन और जीवन में भेद रहता है। वास्तव में साधन जीवन है, जीवन से भिन्न नहीं। साधन और जीवन में भिन्नता आंशिक असाधन के रहित हुए ही रहती है। सर्वांश में असाधन का नाश होने पर साधन और जीवन में भेद नहीं रहता अर्थात् साधन से भिन्न साधक का अस्तित्व ही नहीं रहता, तभी साधक, साधन और साध्य में अभिन्नता होती है जो वास्तविक जीवन है।

व्यक्तिगत साधन का आग्रह यह सिद्ध करता है कि जिस साधन का वह आग्रह कर रहा है, वह वास्तव में उसका जीवन नहीं है, जैसे कोई भूखा प्राणी भोजन की प्रशंसा तो करता हो, पर स्वयं भूखा रहता हो, वैसे ही साधन का आग्रह तो करता हो और साधन और जीवन में एकता न हो। इस दृष्टि से असाधन-रहित होकर अपने-अपने साधन का अनुसरण करना है, उसका दूसरों के प्रति आग्रह नहीं करना है। आग्रह मानव की परिच्छिन्नता का परिचय देता है। परिच्छिन्नता भेद तथा भिन्नता की जननी है जो संघर्ष का मूल है। साधननिष्ठ मानव-समाज में परस्पर स्नेह की एकता रहती है। स्नेह की एकता ही एकमात्र संघर्ष के नाश में हेतु है। अपने-अपने मजहब तथा इज़्म के आधार पर स्नेह की एकता से भिन्न

किसी अन्य प्रकार की एकता की स्थापना का प्रयास करना परस्पर दलबन्दी तथा संघर्ष को जन्म देना है जो विनाश का मूल है। अपनी-अपनी मान्यताओं से अपने को सुन्दर बनाकर प्राप्त सुन्दरता से समाज की सेवा करना हितकर है। पर मजहब और इज़्म का आग्रह करना विधान-विरोधी कृत्य है। व्यक्तिगत भिन्नता का तथ्य वास्तविक है। उसका आदर करना अनिवार्य है। पारस्परिक सहयोग द्वारा भिन्नता में एकता स्थापित होती है। आग्रह तथा अधिकार तो एकता के नाम पर भिन्नता को ही पोषित करता है।

जो बुराई बुराई के वेश में आती है उससे उतनी क्षति नहीं होती जितना विनाश उस बुराई से होता है जो भलाई का वेश धारण करके आती है। सुधार के नाम पर संघर्ष का जन्म इसी प्रमाद से होता है। प्रत्येक प्रणाली हितकर है, पर कब? जब उसके अनुसरण से अपने को सुन्दर बना सकें। दूसरों को हमारी प्रणाली अभीष्ट नहीं है अपितु सहयोग एवं स्नेह अभीष्ट है। विभिन्न भेद होने पर भी मानव सहयोग दे सकता है, स्नेह रख सकता है। एकता के नाम पर स्नेह तथा सहयोग के गीत गाना व्यापकता को संकीर्ण करना है जो अहितकर है। व्यक्तिगत भिन्नता एक दूसरे की पूरक है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है जब मानव व्यक्तिगत अधिकार तथा आग्रह से रहित हो जाय। आग्रह तथा अधिकार-लोलुपता ने ही सीमित अहंभाव को जन्म दिया है, जो विनाश का मूल है। सीमित अहंभाव के रहते हुए निर्ममता, निष्कामता एवं आत्मीयता सम्भव नहीं है। निर्ममता के बिना निर्विकारता तथा निष्कामता के बिना परम शान्ति एवं आत्मीयता के बिना अगाध प्रियता जाग्रत ही नहीं होती। निर्विकारता की अभिव्यक्ति बिना हुए अनेकता में एकता का दर्शन सम्भव नहीं है और शान्ति के बिना आवश्यक सामर्थ्य की अभिव्यक्ति तथा असंगता सम्भव नहीं है जो स्वाधीनता की जननी है। प्रियता की अभिव्यक्ति हुए बिना न

तो नीरसता का ही नाश होता है और न परिच्छिन्नता का ही अत्यन्त अभाव होता है जो सर्वतोमुखी विकास का मूल है।

सीमित अहंभाव के कारण ही ममता, कामना एवं तादात्म्य का पोषण होता है। समस्त विकारों की भूमि ममता है और पराधीनता एवं अशान्ति की जननी कामना है एवं तादात्म्य से ही परिच्छिन्नता जीवित रहती है जिसके रहते हुए अनेक प्रकार के भेद तथा भिन्नता उत्पन्न होती है जो अवनति का मूल है। इस दृष्टि से अहम् भाव का अन्त करना अनिवार्य है जो एकमात्र अचाह, अप्रयत्न एवं समर्पण से ही सम्भव है। इसी पाठ को पढ़ाने के लिए कामनाओं की अपूर्ति का विधान है। पर यह रहस्य वे ही जान पाते हैं जिन्होंने विधान का आदरपूर्वक स्वागत किया है। प्रत्येक कर्म का जन्म कर्ता की रुचि से होता है पर उसका फल विधान से होता है। किये हुए के फल में कर्त्ता स्वाधीन नहीं है। कर्म-सामग्री प्रत्येक कर्त्ता को विधान से मिलती है, पर उसके उपयोग में कर्त्ता स्वाधीन है। जो मानव विधान का आदर नहीं करते वे ही मिली हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य आदि का दुरुपयोग करते हैं जो अहितकर है। किये हुए का फल सुखद हो अथवा दुःखद, पर विधान से होने के कारण मंगलकारी है। सुख सुकृति और दुःख दुष्कृति से फल को नाश करता है। इस दृष्टि से विधान मानव को कर्म से अतीत की ओर अग्रसर होने के लिए प्रेरित करता है। कर्म से अतीत योग, बोध तथा प्रेम का साम्राज्य है। यदि सुख-दुःख के स्वरूप में किये हुए कर्मों का फल नाश न होता तो कोई भी मानव योग, बोध तथा प्रेम का अधिकारी न होता। इस दृष्टि से विधान मानव-मात्र के लिए मंगलकारी है। मानव-मात्र योग, बोध तथा प्रेम से अभिन्न हो कृतकृत्य हो सकता है। अतः करने में सावधान तथा होने में प्रसन्न रहना अनिवार्य है।

सुख-दु:ख में जीवन-बुद्धि स्वीकार करना और सुख की दासता तथा दु:ख के भय में आबद्ध रहना मानव का प्रमाद है, जिसका नाश एकमात्र विधान के आदर में ही निहित है। विधान का आदर करने में ही मानव का सर्वतोमुखी विकास है। विधान का उल्लंघन करना अपने ही द्वारा अपना विनाश करना है। विधान के अधीन होने पर पराधीनता, जड़ता और अभाव की गन्ध भी नहीं रहती। जो हो रहा है वह विधान है। उसके प्रभाव को अपनाना विधान का आदर है। विधान का आदर करते ही, जो हो रहा है उससे परे जो जीवन है उसकी उत्कट लालसा जाग्रत होती है, जो विकास का मूल है। प्रत्येक घटना में मंगलमय विधान का दर्शन करना और घटना के अर्थ को अपनाकर घटना को भूल जाना विधान का आदर है। अर्थ को भूल जाना और घटनाओं का चिन्तन करना विधान का अनादर है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है जब मानव करने और होने के भेद को भली-भाँति जान लेता है। करने के मूल में करने का राग, पाने का प्रलोभन तथा पराधीनता में जीवन-बुद्धि रहती है। कर्म-सामग्री, किये हुए का फल एवं उस फल का नाश विधान से होता है। जब मानव यह भली-भाँति अनुभव कर लेता है कि किसी भी कर्म का फल अविनाशी जीवन नहीं है तब उसे कर्म से अरुचि होती है। परन्तु वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य के रहते हुए कुछ न कुछ करना पड़ता है, किन्तु कर्म की वास्तविकता का बोध हो जाने पर कर्ता में निष्कामता की अभिव्यक्ति होती है, जिसके होते ही विधान से कर्म का फल होने पर भी कर्ता उस फल में आबद्ध नहीं होता।

यह कैसा अनुपम विधान है जो प्रत्येक मानव को कर्म के फल से मुक्त कर अविनाशी जीवन से अभिन्न कर देता है अर्थात् किसी भी कर्म से कर्म का फल नाश नहीं होता अपितु कर्ता में निष्कामता आने-मात्र से ही समस्त कर्मों का फल नाश हो जाता है। यह अनन्त का मंगलमय विधान है।

भूतकाल की भूल से पीड़ित मानव जब अधीर हो जाता है और अपने को अपनी ही दृष्टि में निन्दनीय पाता है, उस दशा में भी मंगलमय विधान उसका पथ-प्रदर्शन करता है। इस दृष्टि से विधान मानव-मात्र के लिए सर्वदा मंगलकारी है। भूल-जनित वेदना भूल न दुहराने की प्रेरणा देती है। उस प्रेरणा का आदरपूर्वक पालन करते ही सभी का वर्तमान निर्दोष होता है। उस निर्दोषता से मानव की अभिन्नता हो जाती है जिसके होते ही भूतकाल की भूल का परिणाम सदा के लिए मिट जाता है और वर्तमान सरस तथा भविष्य उज्ज्वल हो जाता है, यह विधान की महिमा है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है जब मानव प्राप्त विवेक के प्रकाश में मानव-जीवन के महत्त्व को स्वीकार करता है।

मानव अन्य प्राणियों की भाँति नहीं है। मानव में किये हुए का प्रभाव अंकित होता है और उसके आधार पर वह अपने को भला-बुरा मानता है। अपनी की हुई भलाई-बुराई अपने से मानव छिपा नहीं सकता। इसी कारण किये हुए का प्रभाव उसे व्यथित करता रहता है। उस व्यथा से रहित करने के लिए भी मानव को प्रकाश मिलता है। इस दृष्टि से मानव-जीवन सर्वोत्कृष्ट है, पर विधान का अनादर करने पर उसकी गणना पशुता से भी निम्न-कोटि में हो जाती है, कारण कि पशुओं में न तो किये हुए का पश्चाताप ही होता है और न उसका भावी फल बनता है। किये हुए कर्म का अदृश्य प्रभाव मानव में ही अंकित होता है। उस अदृश्य प्रभाव का नाश करने के लिए मानव विवेकपूर्वक असंगता को अपनाकर समस्त कर्मों के फल से मुक्त हो कृतकृत्य होता है। विवेकरूपी प्रकाश मंगलमय विधान से प्रत्येक मानव को स्वतः प्राप्त है। वैधानिक दृष्टि से किसी आकृति विशेष को ही मानव नहीं कहते; जो अपने दायित्व तथा माँग को जानता है, वही मानव है।

यह सभी को विदित है कि मानव को क्रियाशक्ति, विवेकशक्ति तथा भावशक्ति प्राप्त है। भावशक्ति के सदुपयोग द्वारा मानव बिना जाने,

सुने हुए प्रभु में अविचल आस्था, श्रद्धा, विश्वासपूर्वक आत्मीयता स्वीकार कर सकता है जिसके करते ही अहम् और मम का नाश हो जाता है और अगाध अनन्त, नित-नव प्रियता जाग्रत होती है। अहम् और मम के नाश होने से समस्त कर्मों का फल नाश हो जाता है और प्रियता जाग्रत होने से नित नव रस की अभिव्यक्ति होती है, जो वास्तविक माँग है। इस दृष्टि से भावशक्ति का सदुपयोग करने पर भी मानव कृतकृत्य हो जाता है। अत: मंगलमय विधान से यह निर्विवाद सिद्ध है कि मानव-जीवन में असफलता के लिए कोई स्थान ही नहीं है।

जिस किसी मानव को जो कुछ मिला है, विधान से मिला है और मिले हुए का सदुपयोग जगत् के लिए उपयोगी है। जो वस्तु, सामर्थ्य, योग्यता जगत् की सेवा के लिए मिली है उसके द्वारा अपने सुख के सम्पादन का प्रयास करना दु:ख को निमन्त्रण देकर बुलाना है और उसके आने पर भयभीत होना है। यह मानव की भूल है। सेवा करते हुए आवश्यक संकल्पों की पूर्ति स्वत: होती है। इस दृष्टि से मिला हुआ अपने लिए नहीं है, अपितु सेवा-सामग्री है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है जब मानव यह अनुभव कर लेता है कि जो कुछ मिला है, विधान से मिला है। उसे अपना मानना और अपने लिए मानना भूल है। जब तक मानव में सेवा की सद्भावना रहती है और जब तक वह सेवा-जनित सुख-भोग नहीं करता है, यहाँ तक कि मैं सेवक हूँ, इस बात का भी रस नहीं लेता है, अर्थात् मिले हुए तथा किये हुए से अपना मूल्यांकन नहीं करता है, तब तक बिना ही माँगे मंगलमय विधान से सेवा-सामग्री स्वत: मिलती रहती है। पर जब मानव सेवा के वेश में व्यक्तित्व के महत्त्व को पोषित करने लगता है तब न तो सेवा-भाव ही रहता है और न आवश्यक सेवा-सामग्री ही प्राप्त होती है। इस कारण सजगतापूर्वक मिले हुए का सदुपयोग पर-सेवा में करना है और निर्मम तथा निष्काम होकर शान्ति, स्वाधीनता एवं

निर्विकारता से अभिन्न होना है, जो अपने लिए उपयोगी है। जब मानव अपने लिए अपने को उपयोगी पाता है तब मंगलमय विधान से उसे वह सामर्थ्य प्राप्त होती है कि वह प्रीति होकर सर्व के आश्रय तथा प्रकाशक के लिए उपयोगी हो जाय, जो वास्तविक जीवन है।

अपने-अपने सुख के सम्पादन की रुचि तो प्राणी-मात्र में जन्मजात है परसुख की दासता से रहित होकर शान्ति, स्वाधीनता से अभिन्न होने की माँग एवं प्रीति से परिपूर्ण होने की अभिरुचि मानव में ही होती है। इस दृष्टि से मानव-जीवन का बड़ा ही महत्त्व है। विधान का अनादर करने पर मानव अपने महत्त्व को भूलता है, जिसके भूलते ही अन्य प्राणियों की भाँति सुख की दासता एवं दुःख के भय में आबद्ध होता है। इस कारण विधान के आदर में ही मानव-जीवन की पूर्णता निहित है। यह कैसा अनुपम विधान है कि निर्मम होते ही दीनता तथा अभिमान का अन्त होता है और सभी अपने हो जाते हैं; भेद, भिन्नता तथा विषमता शेष नहीं रहती। यह कैसे आश्चर्य की बात है कि जिस पर अपना कोई भी स्वत्व नहीं है, उसकी ममता का त्याग दुर्लभ हो गया है। इतना ही नहीं, जो बात अपने करने की है, उसे स्वयं न करके दूसरों से आशा करना और वर्तमान कर्त्तव्य को भविष्य पर छोड़ना कहाँ तक युक्ति-युक्त है, अर्थात् अपनी असावधानी के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। मानव-जीवन में असावधानी के लिए कोई भी स्थान नहीं है। यदि यह कह दिया जाय कि असावधानी सर्वनाश की जननी है तो अत्युक्ति न होगी। ऐसी कोई असफलता है ही नहीं, जिसके मूल में असावधानी नहीं है। विधान के अनुसार सावधानी ही सफलता की जननी है।

मानव-जीवन के महत्त्व की विस्मृति ही असावधानी की जननी है। मानव-जीवन का मूल्यांकन वस्तु, अवस्था, परिस्थितियों के आश्रित करना ही मानव-जीवन के महत्त्व की विस्मृति है। वस्तु, अवस्था, परिस्थितियाँ

विधान से निर्मित हैं। यदि वे अपनी उत्पन्न की हुई होतीं तो उन पर अपना स्थायी स्वत्व होता, पर ऐसा है नहीं। इस कारण मानव 'मानव क्यों है'— इस मूल समस्या पर विचार करने से ही मानव-जीवन के महत्त्व का ज्ञान हो सकता है। वैधानिक दृष्टि से मानव में मानवता यही है कि वह मिले हुए के सदुपयोग द्वारा जगत् के लिए, निर्मम तथा निष्काम होकर असंगतापूर्वक अपने लिए और आस्था, श्रद्धा, विश्वासपूर्वक शरणागत होकर प्रभु के लिए उपयोगी सिद्ध होता है अर्थात् सेवा, त्याग, प्रेम की प्राप्ति में ही मानव-जीवन की महिमा है। किसी परिस्थिति-विशेष के आश्रित मानव जीवन का मूल्यांकन भूल है। सेवा, त्याग, प्रेम प्रत्येक मानव के लिए सम्भव है। इस दृष्टि से प्रत्येक मानव मानव-जीवन के वास्तविक महत्त्व से परिचित हो सकता है, अर्थात् सर्वोत्कृष्ट जीवन की प्राप्ति में मानव पराधीन नहीं है, अपितु सर्वदा स्वाधीन है। यह अनन्त का मंगलमय विधान है।

मानव विस्मृति के कारण ही, जिसकी प्राप्ति में वह स्वाधीन है, उसकी प्राप्ति में पराधीनता अनुभव करता है और जिसके सम्पादन में वह पराधीन है उसमें स्वाधीनता मान बैठता है, जो अवैधानिक है। विधान का आदर करते ही मानव स्वाधीनतापूर्वक वास्तविक जीवन से अभिन्न हो सकता है— यह निर्विवाद सिद्ध है। पराधीनता में जीवन-बुद्धि स्वीकार करने से ही, मानव विधान का आदर नहीं कर पाता। ज्यों-ज्यों पराधीनता-जनित वेदना बढ़ती जाती है त्यों-त्यों स्वाधीनता की उत्कट लालसा सबल तथा स्थायी होती जाती है। सर्वांश में स्वाधीनता की लालसा जाग्रत होते ही मानव में विधान के आदर की सामर्थ्य आ जाती है। और फिर विधान और जीवन में एकता होते ही सर्वतोमुखी विकास स्वतः होता है, यह अनन्त का मंगलमय विधान है।

मानव का जन्म भले ही पराधीनता को लेकर हुआ है, पर उसकी स्वाभाविक माँग स्वाधीन होने की है। स्वाधीनता की माँग ही पराधीनता

का अस्तित्व है। इस दृष्टि से पराधीनता प्राकृतिक तथ्य नहीं है। जिसे पराधीनता असह्य हो जाती है उसे स्वाधीनता स्वत: प्राप्त होती है। यह कैसा उदार विधान है कि जब मानव किसी भी प्रकार पराधीनता सहन नहीं कर पाता तब उसे स्वत: स्वाधीनता प्राप्त होती है। फिर भी मानव पराधीन बना रहे इससे बढ़कर और कोई भारी भूल नहीं है। स्वाधीनता की माँग में ही पराधीनता का नाश तथा स्वाधीनता की प्राप्ति निहित है। यह मंगलकारी विधान है।

सन्देह की वेदना में जिज्ञासा की जागृति, विचार का उदय और नि:सन्देहता की प्राप्ति निहित है। इस दृष्टि से यह स्पष्ट विदित होता है कि वास्तविक माँग ही अपनी पूर्ति में हेतु है। इस रहस्य को अनुभव करते ही असफलता के लिए कोई स्थान नहीं रहता। असफलता का एकमात्र कारण वास्तविक माँग की पूर्ति में विकल्प करना है, जो वैधानिक नहीं है। वैधानिक दृष्टि से माँग उसी की होती है जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व है। अत: माँग की पूर्ति से निराश होना विधान से अपरिचित होना है और कुछ नहीं। कामनाओं की पूर्ति और अपूर्ति वैधानिक है। सभी कामनाएँ कभी किसी की पूरी नहीं हुईं और कुछ कामनाएँ सभी की पूरी हुईं। इस दृष्टि से अन्त में कामना-अपूर्ति ही शेष रहती है, जो मानव को स्वभाव से ही अभीष्ट नहीं है। कामनाओं की निवृत्ति, जिज्ञासा की पूर्ति एवं प्रेम की प्राप्ति वैधानिक तथ्य है। इससे भिन्न जो कुछ है वह मानव की माँग नहीं है। वास्तविक माँग से निराश होना और कामना-पूर्ति की आशा करना, विधान का अनादर है। नि:सन्देहता तथा प्रेम की प्राप्ति में मानव सर्वदा स्वाधीन है। सन्देह-रहित होते ही, जो करना चाहिए वह स्वत: होने लगता है और जो नहीं करना चाहिए उसकी उत्पत्ति ही नहीं होती। इस दृष्टि से नि:सन्देहता बड़े ही महत्त्व की वस्तु है, जिसकी प्राप्ति एकमात्र सन्देह-जनित वेदना से जाग्रत जिज्ञासा से ही होती है।

आवश्यक सामर्थ्य की अभिव्यक्ति, मंगलमय विधान से स्वतः होती है। कर्त्तव्यनिष्ठ के लिए आवश्यक सामर्थ्य और जिज्ञासा-पूर्ति के लिए विचार का उदय एवं शरणागत में प्रीति का उदय स्वतः मंगलमय विधान से होता है। प्राप्त सामर्थ्य का दुरुपयोग करने पर ही मानव असमर्थता में आबद्ध होता है। सामर्थ्य का सदुपयोग करने पर आवश्यक सामर्थ्य बिना माँगे ही प्राप्त होती है। इतना ही नहीं, असमर्थता की व्यथा में भी विकास निहित है, यह मंगलमय विधान है। इस दृष्टि से सफलता से निराश होने के लिए कोई स्थान ही नहीं है। विधान के महत्त्व को न जानने से ही मानव विकास से निराश होता है। मानव-जीवन की दो ही अवस्थाएँ सार्थक हैं—प्राप्त सामर्थ्य का सद्व्यय तथा असमर्थता-जनित वेदना। सामर्थ्य का सदुपयोग करने पर भी विकास होता है और असमर्थता की वेदना में भी विकास निहित है। ह्रास तो केवल उसी का होता है जो न तो प्राप्त सामर्थ्य का सदुपयोग ही करता है और न असमर्थता से पीड़ित है। अब यदि कोई यह कहे कि मैं सामर्थ्य का सदुपयोग भी नहीं कर पाता और न असमर्थता से पीड़ित ही हूँ, तो क्या विकास सम्भव है? तो इस बात पर विचार करना होगा कि जो मानव सामर्थ्य का सदुपयोग नहीं कर पाता तो क्या वह दुरुपयोग करता है? विकास के लिए सदुपयोग करना उतना आवश्यक नहीं, जितना दुरुपयोग न करने का अविचल निर्णय। जब मानव किसी भी प्रकार प्राप्त सामर्थ्य का दुरुपयोग नहीं करता तब अपने-आप सदुपयोग होने लगता है। और यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है। जब मानव सर्वांश में दुरुपयोग न करने के निर्णय में तत्पर हो जाय। ऐसा कोई ह्रास नहीं है जिसका कारण प्राप्त सामर्थ्य का दुरुपयोग न हो। जो नहीं करना चाहिए उसके न करने मात्र से ही विकास आरम्भ हो जाता है, कारण कि दुरुपयोग न करने पर या तो सामर्थ्य का सदुपयोग स्वतः होने लगता है अथवा असमर्थता की वेदना जाग्रत होती है। इस दृष्टि से प्राप्त सामर्थ्य का दुरुपयोग न करने मात्र में ही विकास निहित है।

कुछ न करने की स्थिति स्वतः आवश्यक सामर्थ्य प्रदान कर कर्त्तव्यपरायणता, असंगता एवं शरणागति का मानव को अधिकारी बनाती है जो सर्वतोमुखी विकास में हेतु है। विनाश का मूल एकमात्र विकास से निराश होकर हार मान लेना ही है। प्रत्येक परिस्थिति मंगलमय विधान से निर्मित है। इस दृष्टि से सभी परिस्थितियों में विकास सम्भव है। अतएव विकास से निराश होना मानव की भारी भूल है जिसका शीघ्रातिशीघ्र वर्तमान में ही नाश करना अनिवार्य है। मानव-जीवन में विकास के लिए नित-नवउत्साह उत्तरोत्तर बढ़ता रहे, तो सफलता अनिवार्य है। यह मंगलमय विधान है।

यह विधान है कि सुख का प्रलोभन तथा उसकी दासता रहते हुए दु:ख का आना स्वाभाविक है, अनिवार्य है। सुख के प्रलोभन तथा उसकी दासता का नाश करते ही दु:ख स्वतः मिट जाता है। इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि दु:ख का प्रादुर्भाव केवल मानव को सुख के प्रलोभन से रहित करने के लिए होता है। सुख की दासता से रहित दु:ख, दु:खी को दु:खहारी से अभिन्न कर देता है। इस दृष्टि से सर्वांश में दु:ख का प्रादुर्भाव ही सर्वतोमुखी विकास में हेतु है। जिसके न होने की वेदना है, वह होने लगता है और जिसके होने की वेदना है वह मिट जाता है। इससे यह निर्विवाद सिद्ध है कि वास्तविक माँग पूरी होती है। सुख के प्रलोभन के रहते हुए विकास सम्भव नहीं है। सुख के प्रलोभन ने ही मानव को परम-शान्ति, स्वाधीनता एवं परम-प्रेम से विमुख किया है, कारण कि सुख-भोग का प्रलोभन पराधीनता में जीवन-बुद्धि उत्पन्न करता है जिससे देहाभिमान पुष्ट होता है। बेचारा देहाभिमानी दु:ख-निवृत्ति, परम-शान्ति, स्वाधीनता एवं प्रेम से विमुख हो जाता है। देहाभिमान का नाश वास्तविक माँग की जागृति में ही निहित है। माँग की पूर्ति वैधानिक तथ्य है। इसमें अविचल आस्था होने से ही कामनाओं की निवृत्ति तथा वास्तविक माँग की जागृति होती

है। कैसा अनुपम विधान है कि माँग की जागृति में ही उसकी पूर्ति निहित है। फिर सर्वोत्कृष्ट जीवन की प्राप्ति से निराश होना अपनी भूल के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। कामना-पूर्ति न तो वर्तमान की ही वस्तु है और न स्वाधीनता से ही साध्य है। उसके लिए भविष्य की आशा, श्रम तथा पराधीनता को अपनाना आवश्यक होता है। परन्तु माँग की पूर्ति के लिए माँग के अतिरिक्त न किसी श्रम की अपेक्षा है और न भविष्य की आशा ही अपेक्षित है। सर्वांश में माँग की जागृति तथा उसकी पूर्ति युगपत् है। यह विधान है। इस दृष्टि से प्रत्येक मानव को अपनी वास्तविक माँग की खोज करना है। यद्यपि प्रत्येक मानव में बीज रूप से माँग विद्यमान है, परन्तु कामना-पूर्ति-अपूर्ति से उत्पन्न सुख-दुःख में आबद्ध होने के कारण मानव को माँग की विस्मृति हो गई है, जो दुःख का प्रभाव होने पर नाश होती है, जिसके होते ही माँग की स्मृति जाग्रत होती है जिसकी पूर्ति मंगलमय विधान में निहित है। इस दृष्टि से विधान के आदर में ही जीवन का आदर तथा उसके अनुसरण में ही सर्वतोमुखी विकास स्वतः सिद्ध है।

यह सभी को मान्य होगा कि प्रत्येक उत्पत्ति के मूल में अनुत्पन्न तत्त्व और प्रतीति का प्रकाश है। उसे कोई मानव माने अथवा न माने, इससे उसके होने में कोई अन्तर नहीं होता। जो मानने पर भासित हो और न मानने से न रहे, वह वही है जो नहीं है। जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व है उसके न मानने से कोई क्षति नहीं होती और मानने से उसमें कोई विशेषता नहीं आती। जो है, वह उसका भी है जो उसे मानता है, और उसका भी है जो उसे नहीं मानता। जो सत्य की खोज करता है पर उसमें आस्था नहीं करता, वह खोज करते-करते स्वयं सत्य से अभिन्न हो जाता है और जो सत्य में आस्था करके उससे आत्मीयता स्वीकार करता है वह उसकी प्रीति होकर उससे अभिन्न हो जाता है। इस दृष्टि से जो 'है' उसको कोई माने अथवा न माने, पर वह सभी को जानता है और सभी को अपना

मानता भी है। जब मानव सुख की दासता से रहित होकर केवल दुःखी होता है, अर्थात् दुःखी के जीवन में जब किसी प्रकार का सुख शेष नहीं रहता और वह दुःख को स्वतः मिटा नहीं पाता तब तो उसका अपना है वह उसे दुःखी नहीं रहने देता है अभागा दुःखी तभी तक दुःखी है जब तक सुख का प्रलोभन रखता है। सुख की आशा से रहित होते ही दुःखी का दुःख मंगलमय विधान से स्वतः नाश हो जाता है, कारण कि विधान का विधायक सभी का सब कुछ है और समर्थ है। अतः दुःख का सर्वांश में होना और उसकी निवृत्ति युगपत् है, यह अनन्त का अनुपम विधान है।

प्रार्थना

मेरे नाथ,

आप अपनी सुधामयी, सर्व समर्थ, पतित पावनी, अहैतुकी कृपा से दुःखी प्राणियों के हृदय में त्याग का बल एवं सुखी प्राणियों के हृदय में सेवा का बल प्रदान करें, जिससे वे सुख-दुःख के बन्धन से मुक्त हो, आपके पवित्र प्रेम का आस्वादन कर कृतकृत्य हो जाएँ।

ॐ आनन्द ! ॐ आनन्द ! ॐ आनन्द !

मानवता के मूल सिद्धान्त

1. आत्म-निरीक्षण, अर्थात् प्राप्त विवेक के प्रकाश में, अपने दोषों को देखना।
2. की हुई भूल को, पुनः न दोहराने का व्रत लेकर, सरल विश्वासपूर्वक प्रार्थना करना।
3. विचार का प्रयोग अपने पर और विश्वास का दूसरों पर, अर्थात् न्याय अपने पर और प्रेम तथा क्षमा अन्य पर।
4. जितेन्द्रियता, सेवा, भगवत्-चिन्तन और सत्य की खोज द्वारा, अपना निर्माण।
5. दूसरों के कर्त्तव्य को अपना अधिकार, दूसरों की उदारता को अपना गुण और दूसरों की निर्बलता को अपना बल न मानना।
6. पारिवारिक तथा जातीय सम्बन्ध न होते हुए भी, पारिवारिक भावना के अनुरूप ही, पारस्परिक सम्बोधन तथा सद्भाव, अर्थात् कर्म की भिन्नता होने पर भी, स्नेह की एकता।
7. निकटवर्ती जन-समाज की, यथाशक्ति, क्रियात्मक रूप से सेवा करना।
8. शारीरिक हित की दृष्टि से, आहार-विहार में संयम तथा दैनिक कार्यों में स्वावलम्बन।
9. शरीर श्रमी, मन संयमी, बुद्धि विवेकवती, हृदय अनुरागी तथा अहं को अभिमान शून्य करके, अपने को सुन्दर बनाना।
10. सिक्के से वस्तु, वस्तु से व्यक्ति, व्यक्ति से विवेक तथा विवेक से सत्य को अधिक महत्त्व देना।
11. व्यर्थ-चिन्तन-त्याग तथा वर्तमान के सदुपयोग द्वारा भविष्य को उज्ज्वल बनाना।

प्रार्थना

मेरे नाथ,

आप अपनी सुधामयी, सर्व समर्थ, पतित पावनी, अहैतुकी कृपा से मानव मात्र को विवेक का आदर तथा बल का सदुपयोग करने की सामर्थ्य प्रदान करें एवं हे करुणा सागर ! अपनी अपार करुणा से शीघ्र ही राग-द्वेष का नाश करें। सभी का जीवन सेवा-त्याग-प्रेम से परिपूर्ण हो जाए।

ॐ आनन्द ! ॐ आनन्द ! ॐ आनन्द !

वस्तु खिंचती है धरती की ओर
मनुष्य खिंचता है अनन्त की ओर

सन्त हृदय की करुण पुकार

हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर ।
हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर ।
हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर ।
हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर ।
हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर ।
हे समर्थ हे करुणासागर विनती यह स्वीकार करो,
हे समर्थ हे करुणासागर विनती यह स्वीकार करो,
भूल दिखाकर उसे मिटाकर अपना प्रेम प्रदान करो ।
भूल दिखाकर उसे मिटाकर अपना प्रेम प्रदान करो ।
पीर हरो हरि पीर हरो हरि पीर हरो प्रभु पीर हरो ।
पीर हरो हरि पीर हरो हरि पीर हरो प्रभु पीर हरो ।